आयुष्कालका रहस्य या आयुकी अभिवृद्धि

(डॉ० श्रीत्रिभोवनदास दामोदरदासजी सेठ)

दुर्लभ मनुष्यदेह बार-बार नहीं मिलता। इसलिये हृदयमें हरि-नामसे प्रेम धारण करनेका प्रयत्न करो। यदि एक बार दृढ़ निश्चय कर लो कि प्रभु-प्राप्ति करके ही रहूँगा तो फिर ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो तुम्हें प्रभु-प्राप्तिके मार्गसे हटा दे। भगवत्साक्षात्कार करके मानवजीवनको धन्य तथा सफल बनाना है। इसके लिये आयुवृद्धि और स्वास्थ्य-रक्षाके लिये प्रयत्नशील रहना अपना कर्तव्य है—

आचार्य कहते हैं—'**इदं शरीरं खलु धर्मसाधनम्।**' तथा—

धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः।
सर्वकार्येष्वन्तरङ्गं शरीरस्य हि रक्षणम्॥

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्तिके लिये नीरोग तथा स्वस्थ शरीर ही मुख्य साधन है। इसलिये शरीरकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये।' वेदमें भी दीर्घ जीवनकी प्राप्तिके लिये बार-बार कहा गया है—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥ (अथर्ववेद १९।७१।१)

'ब्राह्मणोंको पवित्र करनेवाली, वरदान देनेवाली वेदमाता गायत्रीकी हम स्तुति करते हैं। वे हमें आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन और ब्रह्मतेज प्रदान करके ब्रह्मलोकमें जायें।'

इस मन्त्रमें सबसे प्रथम आयुका उल्लेख किया गया है। आयुके बिना प्रजा, कीर्ति, धन आदिका कुछ भी मूल्य नहीं है। आत्माके बिना देहका कोई मूल्य नहीं। यही बात आयुके विषयमें है। सौ वर्षकी आयुके लिये अनेक प्रार्थनाएँ देखनेमें आती हैं।

दीर्घ जीवनके लिये अथवा मृत्युको दूर करनेके लिये छः बातें आवश्यक हैं—(१) ब्रह्मचर्य, (२) प्राणायाम, (३) प्रणव-जप, (४) सिद्ध पुरुषकी कृपा, (५) ओषधि तथा रसायन-सेवन और (६) मिताहार। आयुकी रक्षा और वृद्धिके ये छः स्तम्भ हैं।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवभ्यः स्वराभरत्॥

(अथर्ववेद ११।५।१९)

'ब्रह्मचर्यरूपी तपसे विद्वानोंने मृत्युको दूर हटा दिया। इन्द्रने भी ब्रह्मचर्यके प्रतापसे देवताओंको सुख और तेज प्रदान किया।' यह मन्त्र आज्ञा देता है कि मृत्युको दूर करनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन अवश्य करो। ब्रह्मचर्यकी महिमाको मनुष्यने जबसे भुलाया, तभीसे उसका अधःपतन आरम्भ हो गया। जीवनमें उबाल, मेधाकी अप्रतिम शक्ति, जीवनकी मस्ती, यौवनका सात्त्विक उल्लास, आकृतिका ओजस्, वाणीकी दृढ़ता, कार्यकी दृढ़ता, सच्चे साहसकी स्वाभाविकता, जीवनमें चापल्य और चाञ्चल्य—ये सब पूर्ण ब्रह्मचर्यके चिह्न हैं।

वैज्ञानिकोंने यह निश्चय किया है कि ८० पाउंड भोजनसे ८० तोला खून बनता है और ८० तोला खूनसे दो तोला वीर्य बनता है। एक मासकी कमाई डेढ़ तोला वीर्य है। एक बार ब्रह्मचर्य-भङ्ग होनेसे लगभग डेढ़ तोला वीर्य निकलता है। इससे आयु घटती जाती है। कठिन परिश्रमसे प्राप्त की हुई शक्तिको एक बारमें नष्ट कर देना कैसी मूर्खता है। यही वीर्य यदि नष्ट न हो, तो ओजस् बनकर सारे शरीरको तेजस्वी बना देता है। इसी कारण कहा है—

'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।'

'वीर्यका नाश मृत्यु है और वीर्यकी रक्षा जीवन है।'

गुरुके सांनिध्यमें रहकर प्राणायाम करना सीखना चाहिये और फिर उसका अभ्यास बढ़ाना चाहिये। स्वरोदयके अनुसार एक दिनमें अर्थात् चौबीस घंटेमें मनुष्यके औसत इक्कीस हजार छः सौ श्वास चलते हैं। उनमें जितनी कमी की जाय उतनी ही आयु बढ़ जाती है तथा जितने ही श्वास बढ़ते हैं, उतनी ही आयु घट जाती है।

मैथुनक्रिया, क्रोध, उत्तेजना, हिंसा, आवेश, अतिहर्ष, दौड़ना आदिमें श्वास जल्दी-जल्दी चलकर बढ़ जाते हैं,

जिससे आयु घटती है और प्राणायाम, ध्यान, शान्ति, क्षमा, ब्रह्मचर्य, नम्रता, धीरे-धीरे चलना आदिमें श्वास धीमी गतिसे चलते हैं, अत: आयु बढ़ती है। आयुकी अवधि श्वासोंपर निर्धारित है, कालपर नहीं। आयुके घटने-बढ़नेका यह रहस्य निरन्तर स्मरण रखना चाहिये। मनुष्यको जहाँतक हो सके, जल्दी-जल्दी और लघु श्वास नहीं लेना चाहिये, प्रत्युत ऐसी आदत डालनी चाहिये कि श्वास लंबा हो और धीरे-धीरे चले। प्राणायाम इसका एक मुख्य साधन है। परंतु प्रत्येक मनुष्य प्राणायाम नहीं कर सकता, इसलिये दीर्घ श्वास-प्रश्वासकी क्रिया नीचे लिखे अनुसार करनेसे उद्देश्यकी सिद्धि हो सकती है।

प्रत्येक मनुष्यको प्रात: सूर्योदयसे पूर्व उठना चाहिये। मल-मूत्रका त्याग करके स्नान करे। तत्पश्चात् पृथिवीपर कम्बल या दरी बिछाकर सिरके नीचे बिना कोई तकिया रखे लेट जाय। हाथ-पैरको ढीला रखे। कमरका बन्धन ढीला करे और मुँह बंद करके नाकसे श्वास ले। श्वास इस प्रकार ले कि नाभिके साथ-साथ पेट फूलता जाय। इस प्रकार पेट भर जानेपर मुँह बंद रखते हुए नाकके द्वारा यों श्वास छोड़े कि धीरे-धीरे पेट बैठता चला जाय। नाकसे श्वास लेने और छोड़नेका समय एक-सा होना चाहिये। परंतु यह समय घड़ीसे मापना ठीक नहीं। प्रभुकी प्रार्थनासे एक चरण-पद लेकर मनमें एक बार जबतक पाठ होता रहे, तबतक श्वास ले; और पश्चात् वही पाठ एक बार होता रहे, तबतक श्वास छोड़े। पश्चात् जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाय, वैसे-वैसे प्रार्थनाके पाठकी मात्रा बढ़ाता जाय। उसका दूसरा चरण ले ले (अथवा प्रार्थनाके स्थानमें भगवान्‌के नामका जप करता रहे)। अर्थात् जितने समयमें चौबीस अक्षरका उच्चारण हो, उतने समयतक श्वास लेने और उतने ही समयतक श्वास छोड़नेका अभ्यास करे। इस प्रकार कम-से-कम सात बार और अधिक-से-अधिक इक्कीस बार श्वास लेने-छोड़नेका नियमित अभ्यास करे। यह विशेष रूपसे याद रखे कि श्वास लेनेमें वायु नाभिपर्यन्त पहुँचता है या नहीं और श्वास छोड़ते समय नाभि खाली हो जाती है या नहीं। इस प्रकार क्रिया करनेके बाद दिन-रात यह ध्यान रखे कि श्वास छोटा तो नहीं हो रहा है। इसकी परीक्षा स्वयं ही की जा सकती है।

यदि यह क्रिया बराबर होती रहेगी तो इसे करनेवालेका मल साफ उतरेगा, पेशाब ठंडा होगा, भूख खूब लगेगी। खाया हुआ भोजन अधिक पचेगा, आँखका तेज बढ़ेगा। सिरमें आनेवाला चक्कर और दिमागकी गरमी शान्त होगी। शरीरमें शक्ति बढ़ने लगेगी।

किंतु यह क्रिया ठीक न होती होगी तो श्वास लेनेकी अपेक्षा छोड़नेमें समय कम लगेगा। ऐसी अवस्थामें उपर्युक्त गुणोंकी अपेक्षा विरुद्ध परिणाम निकलेगा। यदि कभी आवश्यक कार्यवश अधिक श्रम होनेके कारण श्वास जोर-जोरसे चलने लगे तो घबराकर मुँहसे श्वास न ले। अपितु मुँह बंद रखकर नाकसे श्वास लेते रहनेसे थोड़ी ही देरमें श्वास नियमित हो जायगा और थकावट दूर हो जायगी।

जैसे-जैसे नाभिसे श्वास निकालकर बाहर हवामें फेंका जायगा और बाहर हवामें शुद्ध हुए श्वासको नाकके द्वारा नाभिपर्यन्त पहुँचाया जायगा, वैसे-वैसे विष्णुपादामृतकी प्राप्ति अधिकाधिक होती जायगी; इस प्रकार दीर्घ जीवन प्राप्त करनेमें सफलता मिलेगी।

प्रणव-मन्त्रके जपसे आयु बढ़ती है। तैलधारावत् इस मन्त्रका जप श्वास-श्वासमें चलना चाहिये। नाडीके साथ प्रणव-मन्त्रका जप करनेसे बहुत शीघ्र प्रगति होती है। श्वास-प्रश्वासकी गति तालबद्ध बनती है। धातु और रसायनके विशेष योगसे विद्युत्-शक्ति प्रकट होती है। इसी प्रकार श्वास-प्रश्वासके साथ प्रणव-मन्त्रका जप करनेसे अमोघ शक्ति उत्पन्न होती है। अखण्ड गतिसे जप करनेसे मन उसमें स्थिर हो जाता है। जैसे चुंबकके सामने लोहा रखनेसे तुरंत ही वह लोहेको खींच लेता है, केवल चुंबककी शक्तिके पास लोहा आना चाहिये; इसी प्रकार अखण्ड प्रणव-मन्त्रका जप चुंबकके समान है, चित्तवृत्तियाँ लोहेके समान हैं। ये दोनों समीप आ जायँ तो प्रणव-मन्त्रका जप वृत्तियोंको खींच लेता है और वृत्तियाँ प्रणवमय बन जाती हैं। इस प्रकार दीर्घ जीवन और प्रभु-प्राप्तिकी साधना—दोनों साथ-साथ आगे बढ़ते हैं और जीवनका ध्येय सफल हो जाता है।

सिद्ध पुरुषकी कृपा भी इसमें विशेषरूपसे सहायक होती है। यदि ऐसे पुरुषकी कृपा हो तो दीर्घ जीवन और प्रभु-प्राप्ति दोनों ही सत्वर प्राप्त होते हैं।

मुमुक्षु आत्मसाक्षात्कार तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। परंतु इसका साधन भी शरीर ही है। यदि

बीचमें ही शरीरका पतन हो जाय तो अन्तिम लक्ष्य-स्थानतक पहुँचनेमें दीर्घ कालतक समय बिताना पड़ता है। बार-बार जन्म लेने और देह-त्याग करनेमें बहुत समय नष्ट होता है। अतएव किसी भी उपायसे शरीर सशक्त और स्वस्थ बना रहे तथा दीर्घ कालतक टिका रहे तो प्रभुकी प्राप्तिमें सहायक हो सकता है। शरीरको बलवान् बनानेमें शास्त्रोक्त औषध और रसायनका सेवन भी बहुत काम करता है। कायाकल्पके प्रयोगसे शरीरको फिर तरुण-जैसा बलवान् बनाया जा सकता है। अमृत पीनेसे यह देह अमर हो जाता है। बहुतसे योगियोंका मत है कि हमारे परम गुरु मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि आज भी अपने असली शरीरसे विद्यमान हैं। अश्वत्थामाके विषयमें भी यही बात कही जाती है। अतएव औषध और रसायनका सेवन करनेसे अपने ध्येयमें पर्याप्त सहायता मिलती है।

मिताहार शरीरको स्वस्थ बनाये रखनेमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। मिताहारका अर्थ है—पेटमें दो भाग भोजनसे, एक भाग जलसे भरे और एक भाग हवाके लिये खाली रखे। खाना तभी चाहिये जब भूख लगे।

आयुकी वृद्धि एवं जीवनके परम लक्ष्य प्रभुकी प्राप्तिके उपर्युक्त छः उपायोंका श्रद्धा तथा दृढ़तापूर्वक सेवन करके जीवनको सफल बनाना चाहिये।

~~~~

प्राणवायु और आयुका सम्बन्ध

(आचार्य पं० श्रीचन्द्रभूषणजी ओझा)

अनन्त ब्रह्माण्डमें प्राण-तत्त्व ही चेतना-समुद्रकी तरह हिलोरा ले रहा है। ब्रह्म चेतनाकी ऊर्जा अर्थात् विश्वव्यापी शक्ति चेतना ही 'प्राण' है। 'प्राण' मात्र श्वास नहीं है, प्रत्युत वह तत्त्व है, जिससे श्वास-प्रश्वास आदि समस्त क्रियाएँ एक जीवित शरीरमें होती हैं।

प्राण ही ब्रह्म तथा विराट् है, वही सबका प्रेरक है। इसीसे सभी उसकी उपासना करते हैं। प्राण ही सूर्य है, चन्द्रमा है और वही प्रजापति है।

सृष्टिके आरम्भमें पाँचों स्थूल भूतों, लोक-लोकान्तर और सम्पूर्ण जङ्गम तथा स्थावर पदार्थ अपने उपादानकारण आकाशसे प्राण-शक्तिद्वारा उत्पन्न होते हैं, इसी प्राण-शक्तिद्वारा आश्रय पाकर जीवित रहते हैं और प्रलयके समय इसीका आश्रय न पाकर कार्यरूपसे नष्ट होकर अपने कारणरूप आकाशमें मिल जाते हैं। ये सभी भूत प्राणमें लीन होते हैं और प्राणसे प्रादुर्भूत होते हैं। देवता, मनुष्य तथा पशु आदि भी प्राणके सहारे ही साँस लेते हैं। इसीलिये प्राण ही सभी जन्तुओंकी आयु है, यही कारण है कि इसको 'सर्वायुष्' कहा जाता है। शरीररूपी पुरीमें निवास करनेसे तथा उसका स्वामी होनेके कारण 'प्राण' ही पुरुष कहा जाता है। जबतक इस शरीरमें प्राण है तभीतक जीवन है।

श्रुतिमें प्राणको प्रत्यक्ष मानकर उसका अभिनन्दन किया गया है—**वायो त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि** (ऋग्वेद)। अर्थात् प्राणवायु! आप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। प्राण ही जगत्‌का कारण-ब्रह्म है। मन्त्रज्ञान तथा पञ्चकोश प्राणपर ही आधारित हैं। प्राणको ही ऋषि माना गया है। मन्त्र-द्रष्टा ऋषियोंको उनके शरीरके आधारपर नहीं वरन् प्राणके ही आधारपर 'ऋषित्व' प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि विभिन्न ऋषियोंके नामसे उसका ही उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ इन्द्रियोंके नियन्त्रणको '**गृत्स**' और कामदेवको '**मद**' कहते हैं, ये दोनों ही कार्य प्राणशक्तिके द्वारा सम्पन्न होते हैं, इसलिये उन ऋषिको '**गृत्समद**' कहते हैं। '**विश्वं मित्रं यस्य असौ विश्वामित्रम्**' तात्पर्य यह कि प्राणका अवलम्बन होनेसे यह समस्त विश्व मित्र है, इसलिये विश्वामित्र कहा गया। इसी प्रकार वामदेव, अत्रि, वसिष्ठ आदि प्राणके अनेकों नाम ऋषि-बोधक हैं।

काया-नगरीमें प्राणवायु ही राजा है—'**कायानगरमध्ये तु मारुतः क्षितिपालकः।**' अर्थात् देवता, मनुष्य, पशु और समस्त प्राणी प्राणसे ही अनुप्राणित हैं। प्राण ही जीवन है। इस प्राण-शक्तिका एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण विज्ञान है। योग-साधनासे इस विज्ञानको प्रत्यक्ष अनुभूत किया जाता है। जिसने अपने सोते हुए प्राणको जगा लिया, उसके लिये सब ओर जाग्रत्-ऊर्जाका स्रोत प्रवाहित होने लगा।

मानव-शरीरमें वृत्तिके कार्यभेदसे इस प्राणवायुको
~~~~

मुख्यतया दस भिन्न-भिन्न नामोंसे विभक्त किया गया है—

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः॥

(गोरक्षसंहिता)

अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये दस प्रकारके प्राण-वायु हैं।

श्वासको अंदर ले जाना और बाहर निकालना, मुख और नासिकाद्वारा उसे गतिशील करना, भुक्त अन्न-जलको पचाना और अलग करना, अन्नको पुरीष तथा पानीको पसीना और मूत्र तथा रसादिको वीर्य बनाना **प्राणवायु**का ही कार्य है। यह हृदयसे लेकर नासिकापर्यन्त शरीरके ऊपरी भागमें वर्तमान है। ऊपरकी इन्द्रियोंका काम इसके आश्रित है। **अपानवायु**का कार्य गुदासे मल, उपस्थसे मूत्र और अण्डकोशसे वीर्य निकालना तथा गर्भ आदिको नीचे ले जाना एवं कमर, घुटने और जाँघका कार्य करना है। **समानवायु** देहके मध्य भागमें नाभिसे हृदयतक वर्तमान है। पचे हुए रस आदिको सब अङ्गों और नाडियोंमें बराबर बाँटना इसका कार्य है। कण्ठमें रहता हुआ **उदानवायु** सिरपर्यन्त गति करनेवाला है। शरीरको उठाये रखना इसका काम है। इसके द्वारा शरीरके व्यष्टि प्राणका समष्टि प्राणसे सम्बन्ध होता है। उदानद्वारा ही मृत्युके समय सूक्ष्म शरीरको स्थूल शरीरसे बाहर निकालना तथा सूक्ष्म शरीरके कर्म, गुण, वासनाओं और संस्कारोंके अनुसार गर्भमें प्रवेश होना है। योगिजन इसीके द्वारा स्थूल शरीरसे निकलकर लोकलोकान्तरमें घूम सकते हैं। **व्यान**का मुख्य स्थान उपस्थ-मूलसे ऊपर है। सम्पूर्ण स्थूल और सूक्ष्म नाडियोंमें गति करता हुआ यह शरीरके सभी अङ्गोंमें रुधिरका संचार करता है। **नागवायु** उद्गार (छींकना) आदि, **कूर्मवायु** संकोचन, **कृकरवायु** क्षुधा-तृष्णादि, **देवदत्तवायु** निद्रा-तन्द्रा आदि और **धनंजयवायु** पोषण आदिका कार्य करता है।

प्राणोंको अपने अधिकारमें चलानेवाले मनुष्यका अधिकार उसके शरीर, इन्द्रियों तथा मनपर हो जाता है। प्राणोंको अपने वशमें करनेका नाम 'प्राणायाम' है। प्राणायामसे मनुष्य स्वस्थ एवं नीरोग तथा दीर्घायु रहकर मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर सकता है। मनका प्राणसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनको रोकना अति कठिन है, पर प्राणके निरोधसे मनका निरोध सुगम हो जाता है। इसीलिये प्राणायामका मनुष्य-जीवनमें आत्यन्तिक महत्त्व है।

सूक्ष्म प्राण—मनुष्यके शरीरमें प्राणप्रवाहिनी नाडियाँ असंख्य हैं, इनमें पंद्रह प्रमुख हैं—(१) सुषुम्णा, (२) इडा, (३) पिंगला, (४) गांधारी, (५) हस्तिजिह्वा, (६) पूषा, (७) यशस्विनी, (८) शूरा, (९) कुहू, (१०) सरस्वती, (११) वारुणी, (१२) अलम्बुषा, (१३) विश्वोदरी, (१४) शङ्खिनी और (१५) चित्रा।

'सुषुम्णा, इडा, पिंगला'—ये तीन नाडियाँ प्रधान हैं। इन तीनोंमें सुषुम्णा सर्वश्रेष्ठ है। यह नाडी अति सूक्ष्म नलीके सदृश है, जो गुदाके निकटसे मेरुदण्डके भीतरसे होती हुई मस्तिष्कके ऊपर चली गयी है। इसी स्थानसे इसके वामभागसे इडा और दक्षिणभागसे पिंगला नासिकाके मूलपर्यन्त चली गयी है। वहाँ भ्रूमध्यमें ये तीनों नाडियाँ परस्पर मिल जाती हैं। सुषुम्णाको सरस्वती, इडाको गङ्गा और पिंगलाको यमुना भी कहते हैं। गुदाके समीप जहाँ ये तीनों नाडियाँ पृथक् होती हैं, उनको 'मुक्त-त्रिवेणी' और भ्रूमध्यमें जहाँ ये तीनों पुनः मिल गयी हैं, उनको 'युक्त-त्रिवेणी' कहते हैं।

इडाको चन्द्रनाडी और पिंगलाको सूर्यनाडी कहते हैं। जब बायें नथुनेसे श्वास अधिक वेगसे निकले या चलता रहे तो उसे इडा या चन्द्रस्वर कहते हैं और जब दायेंसे अधिक वेगसे निकले तो उसे पिंगला या सूर्यस्वर कहते हैं। जब दोनों नथुनोंसे श्वास समान गतिसे अथवा एक क्षण एक नथुनेसे दूसरे क्षण दूसरे नथुनेसे निःसृत हो तो उसे सुषुम्णास्वर कहते हैं।

स्वस्थ मनुष्यका स्वर प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदयके समयसे ढाई-ढाई घड़ीके हिसाबसे क्रमशः एक-एक नथुनेसे चला करता है। इस प्रकार एक दिन-रातमें बारह बार बायें और बारह बार ही दायें नथुनेसे क्रमानुसार श्वास चलता है। शारीरिक विकार एवं रोगकी अवस्थामें स्वर अनियमित चलने लगते हैं। जुकामकी अवस्थामें अपने प्रयत्नद्वारा स्वरको बदलनेसे रोग-निवृत्तिमें बड़ी सहायता मिलती है।

जब इडा अर्थात् चन्द्र वामस्वर चल रहा हो तो स्थायी कार्य करना चाहिये। इसमें अल्प श्रम और प्रबन्धकी आवश्यकता हो तथा दूध-जल आदि तरल पदार्थोंके पीने, पेशाब करने, यात्रा और भजन-साधन आदि शान्तिके कार्य

करने चाहिये। पिंगला अर्थात् सूर्य दायें स्वर चलनेके समय अधिक कठिन कार्य करने चाहिये, जिसमें अधिक परिश्रम अपेक्षित हो तथा कठिन यात्रा, परिश्रमके कार्य, भोजन, शौच, स्नान और शयन आदि करने चाहिये।

जब दोनों स्वर सम अथवा एक-एक क्षणमें बदलते हुए चल रहे हों तो इस स्थितिमें योग-साधन तथा सात्त्विक धर्मार्थकार्य करने चाहिये। यदि सुषुम्णास्वर नहीं चल रहा हो तो ध्यानादिसे पूर्व प्राणायाम अवश्य करना चाहिये।

सामान्यतया प्राणायाम श्वासोच्छ्वासकी एक व्यायाम-पद्धति है, जिससे फेफड़े बलिष्ठ होते हैं, रक्त-संचारकी व्यवस्था सुधरनेसे समग्र आरोग्य एवं दीर्घ आयुका लाभ मिलता है। शरीर-विज्ञानके अनुसार मानवके दोनों फेफड़े साँसको अपने भीतर भरनेके लिये वे यन्त्र हैं जिनमें भरी हुई वायु समस्त शरीरमें पहुँचकर ओषजन अर्थात् आक्सिजन प्रदान करती है और विभिन्न अवयवोंसे उत्पन्न हुई मलिनता (कार्बोनिक गैस)-को निकालकर बाहर करती है। यह क्रिया ठीक तरह होती रहनेसे फेफड़े मजबूत होते हैं और रक्त-शोधनका कार्य चलता रहता है।

प्राय: ऐसा देखा जाता है कि अधिकांश व्यक्ति गहरी साँस लेनेके अभ्यस्त नहीं होते हैं, वे उथली साँस ही लेते हैं, जिससे फेफड़ोंका लगभग एक चौथाई ही भाग कार्य करता है, शेष तीन चौथाई भाग लगभग निष्क्रिय पड़ा रहता है। शहदकी मक्खीके छत्तेकी तरह फेफड़ोंमें प्राय: सात करोड़ तीस लाख 'स्पंज' जैसे कोष्ठक होते हैं। साधारण हलकी साँस लेनेपर उनमेंसे लगभग दो करोड़ छिद्रोंमें ही प्राणवायुका संचार होता है, शेष पाँच करोड़ तीस लाख छिद्रोंमें प्राणवायु न पहुँचनेसे ये निष्क्रिय पड़े रहते हैं। परिणामत: इनमें जड़ता और गंदगी जमने लगती है, जिससे क्षय (टी०बी०), खाँसी, ब्रोंकाइटिस आदि भयंकर रोगोंसे व्यक्ति आक्रान्त हो जाता है।

इस प्रकार फेफड़ोंकी कार्य-पद्धतिका अधूरापन रक्त-शुद्धिपर प्रभाव डालता है। हृदय कमजोर पड़ता है और परिणामत: अकालमृत्यु नित्य ही उपस्थित रहती है, इस स्थितिमें प्राणायामकी महत्ता व्यक्तिकी दीर्घ आयुके लिये अत्यधिक हो जाती है। विभिन्न रोगोंका निवारण प्राण-वायुका प्राणायामके द्वारा नियमन करनेसे आसानीसे किया जा सकता है। इस विज्ञान अर्थात् प्राणवायुके विज्ञानकी जानकारीसे मानव स्वयं तथा दूसरोंके स्वास्थ्यको सुव्यवस्थित करके सुखी एवं आनन्दपूर्ण जीवनका पूर्ण लाभ लेता हुआ अपनी आयुको बढ़ा सकता है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म-कार्यमें, शुभकार्यमें तथा संध्या-वन्दनके नित्य-कर्ममें 'प्राणायाम' को एक आवश्यक धर्मकृत्यके रूपमें सम्मिलित किया गया है।

उद्वेग, चिन्ता, क्रोध, निराशा, भय और कामुकता आदि मनोविकारोंका समाधान 'प्राणायाम' द्वारा सरलतापूर्वक किया जा सकता है। इतना ही नहीं, मस्तिष्ककी क्षमता बढ़ानेमें स्मरण-शक्ति, कुशाग्रता, सूझ-बूझ, दूरदर्शिता, सूक्ष्म निरीक्षण, धारणा, प्रज्ञा, मेधा आदि मानसिक विशेषताओंका अभिवर्धन करके 'प्राणायाम' द्वारा दीर्घजीवी बनकर जीवनका वास्तविक आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

'प्राणायाम' मात्र साँस खींचना और छोड़ना ही नहीं है। यह तो उसकी प्रारम्भिक परिपाटी है। अनेक प्राणायाम ऐसे विलक्षण हैं, जिनमें साँस खींचने-छोड़नेकी आवश्यकता नहीं पड़ती है। उनमें 'प्राणवायु'का आकर्षण एवं विकर्षण ही प्रधान रहता है। 'प्राणवायु'का संचय होनेसे 'समाधि' लगती है। परिणामत: मानव कालको वशमें करके मनचाही अवधितक जीवित रह सकता है और प्राण-त्याग भी उसी सरलतासे कर सकता है।

शरीर और मन 'प्राणशक्ति' से ही चलते हैं। प्राणवायुपर नियन्त्रण करनेकी विधिको जाननेवाला अपने शरीर और मनकी प्रत्येक क्रियापर नियन्त्रण रख सकनेकी क्षमतासे सुसम्पन्न हो जाता है। इस प्रकारके सभी विधि-विधान 'प्राणायाम' विद्याके अन्तर्गत आते हैं। प्राणायामकी महिमाका वर्णन शास्त्रकारोंने इस प्रकार किया है—

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥

अर्थात् सम्यक् प्राणायामसे शारीरिक दोष दूर होते हैं, कुम्भकसे शरीर और मन—ये दोनों मलरहित होते हैं, धारणासे पाप नष्ट होते हैं, प्रत्याहारसे इन्द्रियोंका संसर्ग छूटता है और ध्यानसे अनीश्वर यानी जिसके ऊपर कोई शासक नहीं है, ऐसे उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त होता है।

प्राणतत्त्व

(आचार्य श्रीमुरलीधरजी पाण्डेय, एम्०ए०)

परमात्माकी चर एवं अचर-सृष्टिमें जो क्रियात्मिका शक्ति अथवा जो गत्यात्मिका शक्ति है, उसको प्राणशक्ति कहते हैं। प्राणशक्तिके कारण ही मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतंग और वृक्ष, लता-गुल्म एवं पर्वत आदिके अवयवोंमें उपचय तथा अपचयकी वृद्धि एवं ह्रास होते हैं। प्राणशक्तिके कारण ही मनुष्य, पशु, वृक्ष एवं पाषाणके अवयव या अङ्ग विकसित होते हैं। जब इनमें प्राणशक्ति नहीं रह जाती, तब ये सूखने या सड़ने लगते हैं। चर-जगत् यानी मनुष्य तथा पशु आदिमें तो प्राणवियोगके लक्षण सद्यः प्रतीत होने लगते हैं, परंतु वृक्ष आदिमें कुछ विलम्बसे और पाषाण आदिमें तो बहुत ही विलम्बसे प्रतीत होते हैं। भारतमें लोग विन्ध्य-पर्वतको मृत पर्वत अर्थात् प्राणहीन पर्वत कहते हैं और हिमालयको सजीव या सप्राण कहते हैं। कहा जाता है कि हिमालय आज भी बढ़ रहा है। मनुष्य आदिके शरीरमें जो रक्तसंचार है, वह प्राणशक्तिकी ही क्रिया है। वृक्षोंमें जो रसका संचार हो रहा है, वह भी प्राणक्रियासे ही हो रहा है। जीवकी सत्ता तो सर्वत्र है, इसलिये जीव व्यापक है, पर प्राणके संयोग एवं वियोगसे ही शरीरमें जीवकी सत्ता और असत्ताका अनुमान करते हैं। इस तथ्यको अथर्ववेदके इन दो मन्त्रोंमें इस प्रकार कहा गया है—

यत्प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः।
सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।

× × ×

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।

(११। ४—६)

छान्दोग्योपनिषद्‌में यह और भी स्पष्ट कहा गया है—
सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते।

(१।११।५)

प्राणके इस क्रिया-रूप, शक्ति-रूप और सर्वस्थितिकारक रूपको देखकर भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यजीने ब्रह्मसूत्रके प्राणाधिकरण सूत्रमें '**अत एव प्राणः**' (१।१।२३)-के भाष्यमें प्राणको ब्रह्मतक कह डाला है—

तस्मात् सिद्धं प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्य ब्रह्मत्वम्।

इसी प्रकार—

प्रतर्दनाधिकरणसूत्रमें—'**प्राणस्तथानुगमात्**' (१।१।२८)-के भाष्य '**अतः उपपन्नः संशयः। तत्र प्रसिद्धेर्वायुः प्राण इति प्राप्ते उच्यते—प्राणशब्दं ब्रह्म विज्ञेयम्। कुतः तथानुगमात्।**'—में भी प्राणको ब्रह्म कहा है।

यद्यपि इन दोनों स्थलोंपर प्रकरणवशात् प्राणका अर्थ ब्रह्म करना पड़ा है; किंतु इतना तो मानना ही पड़ता है कि ब्रह्मसे कुछ सादृश्य होनेसे ही प्राणको ब्रह्म कहा गया है।

शरीरस्थित इस शक्तिपर विचार करते हुए आचार्योंने कहा है कि महत्तत्त्वके दो रूप हैं—(१) क्रियाशक्ति तथा (२) ज्ञानशक्ति। इस क्रियाशक्तिको प्राण कहते हैं और इस ज्ञानशक्तिको बुद्धि कहते हैं। इस तथ्यको आचार्योंने कई स्थलोंपर कहा है। जैसे बृहदारण्यकोपनिषद् (१।६।३)-के शाङ्करभाष्यमें—

'**कार्यात्मके शरीरावस्थे क्रियात्मकस्तु प्राणः।**'

यहीं २।२।१ के शा०भा०में—

प्राणः स्थूणा अन्नपानजनिताशक्तिः प्राणो बलमिति पर्यायः। यही बात २।१।१५ के शा०भा०में भी कही गयी है। इस तथ्यको श्रीविज्ञानभिक्षु ब्रह्मसूत्र—**अणुश्च** (२।४।१३)-के अपने विज्ञानभाष्यमें और भी स्पष्टरूपसे लिखते हैं—

'**महत् तत्त्वस्य रूपद्वयम्-एका क्रियात्मिका शक्तिः प्राणः अपरा अध्यवसायात्मिका शक्तिः बुद्धिः**'।

प्राण ही बुद्धि है इस बातको श्रीअप्पयदीक्षितने अपने सिद्धान्तलेशसंग्रहमें इस प्रकार स्वीकारा है—

प्राणाख्यबुद्ध्युत्क्रान्तेः (२ परि० जीवाणुत्वनिरास)-की व्याख्यामें कहा गया है कि—'**यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या प्रज्ञा स प्राण इति श्रुतेः**'।

सांख्यकारिका (२९)-की तथा पातञ्जलयोगसूत्र (३।३९)-की अपनी व्याख्यामें श्रीवाचस्पति मिश्रने भी यही कहा है।

देवीभागवतमें शक्तिरूप इस प्राणकी बड़ी अच्छी स्तुति की गयी है—

रक्ताम्भोधिस्थपोतोल्लसदरुणसरोजाधिरूढा कराब्जैः
शूलं कोदण्डभिक्षूद्भवमगुणमप्यङ्कुशं पञ्चबाणान्।

बिभ्राणाऽसृक्कपालं त्रिनयनलसिता पीनवक्षोरुहाढ्या
देवी बालार्कवर्णा भवतु सुखकरी प्राणशक्तिः परा नः॥

(११।८।१९)

इस प्राणकी उत्पत्तिके विषयमें शास्त्रोंमें अनेक प्रकार मिलते हैं। वेदान्तपरिभाषामें लिखा है कि परमात्माके ईक्षणसे पञ्चमहाभूत व्यक्त होते हैं। इन्हीं रजोगुणप्रधानभूत पञ्चमहाभूतोंसे प्राणकी उत्पत्ति होती है। जैसे—

रजोगुणोपेतैः पञ्चभूतैरेव मिलितैः पञ्च वायवः
प्राणापानव्यानोदानसमानाख्या जायन्ते।

(वै०प०वि०परि०)

यही बात विद्यारण्य स्वामीने पञ्चदशी ग्रन्थमें लिखी है—

तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात् स पञ्चधा।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः॥

(प० त० विवेक० १।२२)

बृहदारण्यकोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् और प्रश्नोपनिषद्में तो साक्षात् परमात्मासे ही प्राणकी उत्पत्ति वर्णित है—

अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः""""सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।

(बृहदारण्यक उप० २।१।२०)

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

(मु०उप० २।१।३)

'स प्राणमसृजत।' (प्र०उ० ६।४)

ब्रह्मसूत्रमें प्राणोत्पत्त्यधिकरण (२।४।२—४)-के सूत्रोंमें प्राणकी उत्पत्तिके विषयमें बहुत विचार किया गया है। अन्तमें कहा है कि—**'तस्मादपि प्राणानां ब्रह्मविकारत्वसिद्धिः'।** सांख्यसिद्धान्तके सृष्टि-प्रक्रियामें स्पर्शतन्मात्रासे वायुकी उत्पत्ति मानी गयी है और गतिके सामान्य होनेसे वायुके साथ प्राण शब्दका व्यवहार किया गया है। जैसे—**'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।'** (सां०का० २९)। यही बात पातञ्जल-योगसूत्र (३।३९)-में भी कही गयी है। न्यायवैशेषिकाचार्योंने नौ द्रव्योंके अन्तर्गत वायुद्रव्यमें ही प्राणका अन्तर्भाव कर दिया है। उनका कहना है कि शरीरगत स्थानभेदसे एक ही वायु प्राण, अपान आदि नामोंसे व्यवहृत होता है। जैसे हृदयस्थानीय वायु प्राण है, गुदस्थानीय वायु अपान है। सम्पूर्ण शरीरमें घूमनेवाला वायु व्यान है। कण्ठस्थानीय वायु उदान है और नाभिस्थानीय वायु समान है।

इस प्रकार इन आचार्योंने वायुको प्राण कहा है। पर इनका तात्पर्य वायुको प्राण कहनेमें नहीं है। वस्तुतः प्राण गत्यात्मक है। वह साक्षात् ब्रह्मसे अथवा प्रकृतिरूपा मायासे उत्पन्न है। इस प्राणकी गत्यात्मकता सदागतिक वायुमें पायी जाती है। अतः गौणी वृत्तिसे वायुको प्राण कह देते हैं। इसमें भी शरीरके प्रधान अङ्ग हृदय या नासिकामें रहनेवाले वायुको विशेषरूपसे प्राणवायु कह देते हैं।

इसी प्रकार प्राणकी संख्याके विषयमें भी मतभेद है। कहीं प्राण एक है ऐसा कहा है, कहीं पाँच कहा है, कहीं सात, कहीं नौ, कहीं दस, कहीं ग्यारह और कहीं बारह। जैसे **'अणुश्च'** (ब्र०सू० २।४।१३)-के विज्ञानभाष्यमें कहा है कि महत्तत्त्वके दो रूप हैं—एक क्रियात्मिका शक्ति और दूसरी अध्यवसायात्मिका शक्ति। यहाँ क्रियात्मिका शक्ति प्राणको माना गया है जो एक है। पाँच प्राण तो प्रसिद्ध ही हैं। जैसे वेदान्त परिभाषाके विषय-प्रकरणमें कहा है—**'पञ्च प्राणमनोबुद्धि""'** इत्यादि इसीको पञ्चदशीकारने कहा है कि प्राण एक ही है। पर वृत्तिभेदसे पाँच प्रकारका हो जाता है—**'तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदाच्च पञ्चधा'** (प०द०त०वि० १।२२) **'सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च'** (ब्र०सू० २।४।५)-के शाङ्करभाष्यमें कहा है—**'क्वचित् सप्त प्राणाः संकीर्त्यन्ते। सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्'** (मुण्ड० २।१।८) इति। **'क्वचिच्चाष्टौ प्राणा ग्रहत्वेन गुणेन संकीर्त्यन्ते—अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः'** (बृ० ३।२।१) इति। **'क्वचिच्च—सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ** (तै०सं० ५।१।७।१) इति। **क्वचिद्दशनव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी इति। क्वचिदेकाश—दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः'** (बृ० ३।९।४) इति। **'क्वचिद्द्वादश—सर्वेषा॰ स्पर्शानां त्वगेकायनम्'** (बृ० २।४।११)। **'क्वचित् त्रयोदश चक्षुश्च द्रष्टव्यं च'। 'एवं हि विप्रतिपन्नाः प्रामेयत्तां प्रतिश्रुतयः'** (ब्र०सू० २।४ ।५ शा०भा०)। इस शांकरभाष्यकी अपनी भामती व्याख्यामें श्रीवाचस्पति मिश्रने इस प्रकार स्पष्ट किया है—**सात प्राण** हैं—चक्षु, घ्राण, रसना, वाक्, श्रोत्र, मन और त्वक्। **आठ प्राण** हैं—घ्राण, रसना, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वक्। **नव प्राण** हैं—दो श्रोत्र, दो आँख, दो घ्राण, एक वाणी, पायु और उपस्थ अथवा बुद्धि तथा मन। **दस प्राण** हैं—नव-दोश्रोत्र आदि और एक नाभि। **ग्यारह प्राण** हैं—पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा मन।

बारह प्राण हैं—पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन और बारहवाँ हृदय। **तेरह प्राण** हैं—हृदय और मनके साथ पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा अहंकार। यहाँ २।४।५ सूत्रसे लेकर २।४।१९ सूत्रतक प्राणपर बहुत विचार किया गया है। सप्त प्राणके पक्षमें भगवत्पादका अधिक झुकाव है। फिर अन्तमें निर्णय देते समय **'हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्'** इस ब्रह्मसूत्र (२।४।६)-के भाष्यमें लिखते हैं—**'तस्मादेकादशैव प्राणाः शब्दतः अर्थतश्चेति सिद्धम्'** अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि शब्दतः और अर्थतः ग्यारह प्राण हैं। इसके बाद फिर **'न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्'** (ब्र०सू० २।४।९) इस सूत्रमें कहते हैं कि प्राण न तो वायु है और न तो क्रिया है। किंतु वायु ही अध्यात्मरूप प्राप्त कर पञ्चव्यूह होकर प्राण नामसे कहा जाता है। जैसे—

'तस्मादन्यो वायुक्रियाभ्यां प्राणः। कथं तर्हीयं श्रुतिः यः प्राणः स वायुरिति। उच्यते वायुरेवायमध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहो विशेषात्मनाऽवतिष्ठमानः प्राणो नाम भण्यते। न तत्त्वान्तरे नापि वायुमात्रम्। अतश्चोभे अपि भेदाभेदश्रुती न विरुध्येते।'

इस प्रकार निर्णय दिया गया कि वायु महाभूत नहीं अपितु वायु जो देवतारूप है वही अपना पञ्चव्यूहरूप प्राण, अपान आदि रूपमें शरीरमें रहते हैं। अतः प्राण वायुदेवता हैं और प्राण, अपान आदि उनके व्यूह हैं। जैसे पाञ्चरात्र आगममें परमात्माके वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि व्यूह माने गये हैं।

छान्दोग्योपनिषद्के पञ्चम अध्यायमें एक प्राणविद्या वर्णित है। वहाँ यह दिखाया गया है कि एक बार प्राणके साथ चक्षुरादि इन्द्रियोंकी स्पर्धा हुई कि हम लोगोंमें कौन ज्येष्ठ है और कौन श्रेष्ठ है। महत्ता प्रदर्शित करनेके क्रममें चक्षुरिन्द्रिय चली गयी। चक्षुरिन्द्रियके चले जानेपर प्राणी अन्धा बनकर जीवित रहा। उस प्राणीको देखकर चक्षुरिन्द्रिय लज्जित हुई और अपनेको पराजित मानकर पुनः वापस आकर शरीरमें स्थित हो गयी। इसी प्रकार क्रमशः श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक् आदि इन्द्रियाँ भी शरीर छोड़कर चली गयीं और वह व्यक्ति बधिर तथा मूक आदिके रूपमें जीवित रहा। अन्तमें प्राणकी पारी आयी। प्राण जाने लगा। प्राणके निकलते समय सभी इन्द्रियाँ शिथिल होने लगीं, निस्तेज होने लगीं और निष्क्रिय होने लगीं। तब सभी इन्द्रियोंने प्राणको रोका और प्राणसे शरीरमें रहनेके लिये अभ्यर्थना की। सभी इन्द्रियोंने प्राणसे न जानेके लिये कहा—**'अभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति'** (छान्दोग्य० ५।१।१२)। अन्तमें स्वीकारा गया कि आँख, श्रोत्र आदि जो कहे जाते हैं वे सब प्राण ही हैं—

'न वै वाचो न चक्षूꣳषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति।'

(छान्दोग्य० ५।१।१५)

इस स्थलपर इन्द्रियोंके साथ स्पर्धा होनेसे शंका होती है कि प्राण भी इन्द्रिय है क्या? पर वस्तुतः यह बात नहीं है। यथार्थतः प्राण सभी इन्द्रियोंका प्रेरक तथा उज्जीवक एवं शक्ति और बल है।

इस बातको भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने बृहदारण्यकोपनिषद् (२।२।१)-के भाष्यमें इस प्रकार कहा है—

'प्राणः स्थूणा अन्नपानजनिताशक्तिः प्राणो बलमिति पर्यायः'।

प्राणशक्तिके बिना सभी इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं—मृततुल्य हो जाती हैं। इन्द्रियोंमें कार्यक्षमता प्राणसे ही प्राप्त होती है। यहाँ तक कि मनको रोकनेके लिये योगाचार्योंने प्राणको रोकनेका विधान किया है। प्राणको रोकनेपर मन भी रुक जाता है; इसीलिये प्राणायाम-विधिकी इतनी महत्ता है।

इन विवेचनोंसे स्पष्ट हो जाता है कि प्राण वायुदेवताका अध्यात्मरूप है और वह विशेषरूपसे पञ्चव्यूहात्मक बनकर प्राण-अपान आदि पाँच उपाधियाँ प्राप्त करता है। प्रकारान्तरसे यह प्रकृति अर्थात् परमात्माकी मायाशक्तिका एक रूप है। गत्यात्मक होनेके कारण वायुसे तुलना करके वायुरूप कह दिया जाता है। चर-अचर—ये सभी सृष्टिके उपचय तथा अपचयके कारण हैं। सभी प्रकारके शरीरोंमें स्थित जीवनसत्ताके अनुमापक हैं। प्राणशक्ति एक है। स्थानभेद तथा क्रियाभेदसे प्राणको एक, पाँच, सात, नौ, दस, ग्यारह तथा तेरहतक कह देते हैं। **'तस्माद् भवतु सुखकरी प्राणशक्तिः परा नः'**। इति शम्।

भैषज्य-विज्ञानका मूल स्त्रोत—अथर्ववेद

(डॉ० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र)

'भैषज्य' शब्द भेषज शब्दसे स्वार्थमें '**अनन्तावसथेतिह-भेषजाज्ञ्य:**' (५।४।२३) इस सूत्रसे 'ञ्य' प्रत्यय करनेपर सिद्ध होता है। 'वैद्यक-रत्नमाला' के '**भैषज्यं भेषजं चायुर्द्रव्यमगदमौषधम्**' इस वचनसे ज्ञात होता है कि 'भैषज्य' एवं 'भेषज'—ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। 'भेषज' शब्दकी व्युत्पत्ति दो प्रकारसे की जाती है—१-'**भिषक् वैद्यस्तस्येदम्**' इस अर्थमें 'अण्' प्रत्यय लगाकर व्युत्पादित भेषज शब्द सिद्ध होता है। वैद्यसे सम्बद्ध क्रिया एवं द्रव्य 'भैषज्य' तथा 'भेषज' कहे जाते हैं और २-'**भेषो रोगस्तं जयति**' अर्थात् रोगको पराजित करनेका उपाय भेषज है।

इस संदर्भमें 'भिषक्' शब्द भी विचारणीय है। भिषक् शब्दकी व्युत्पत्ति है—'**बिभेति रोगो यस्मात्।**' 'भी' धातुसे 'षुक्' प्रत्यय तथा ह्रस्व करनेपर 'भिषक्' शब्दकी निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि 'भेषज' अथवा 'भैषज्य' एवं 'भिषक्' शब्दोंसे प्राणीके रोग-शमनका उपाय तथा उसका कर्ता विवक्षित है।

अथर्ववेदमें पर्याप्त रूपमें भैषज्य-विज्ञानका मूल प्राप्त होता है। इसी कारण आयुर्वेदके संहिताकारोंने अथर्ववेदसे अपना सम्बन्ध बताया है।[1] आचार्य चरकको उक्ति है—

'**तत्र चेत् प्रष्टारः स्युश्चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानां कं वेदमुपदिशन्त्यायुर्वेदविदः'''' तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णा-मृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या''''।**'

(सूत्रस्थान ३०।१९-२०)

अर्थात् कोई प्रश्नकर्ता वैद्यसे यह प्रश्न करे कि ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद—इन चारों वेदोंमें आयुर्वेदविद् किस वेदका उपदेश करता है तो वैद्यको चाहिये कि वह अथर्ववेदमें अपनी भक्ति दिखलाये।

भैषज्य-विज्ञानका विस्तृत उल्लेख सर्वप्रथम अथर्ववेदमें ही है। इस कारण अथर्ववेदको 'भिषग्वेद' भी कहा जाता है। अथर्वसंहिताके इस मन्त्र—

यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा।
यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥

(११।६।१४)

—में इसे भिषग्वेदके रूपमें अभिहित किया गया है। अथर्ववेदका एक दूसरा नाम 'अथर्वाङ्गिरस' वेद भी है। यह संज्ञा भी अथर्ववेदके भैषज्य-विज्ञानको संकेतित करती है। अथर्वाङ्गिरसमें अथर्व+आङ्गिरस—ये दो शब्द हैं। '**अथर्व**' शब्द हिंसार्थक थुर्वी धातु (पा० ५७१)-से निष्पन्न है। जिस भैषज्य-प्रक्रियामें किसी प्रकारकी हिंसाकी सम्भावना नहीं होती वह '**अथर्व**' कही गयी है और रोगीके अङ्गों (शरीरावयवों)-में सप्तधातुमय जो रस प्रवहमान है, उसके आधारपर किया जानेवाला भैषज्य आङ्गिरस है।

तात्पर्य यह है कि '**अथर्व**' शब्दसे अभिहित भैषज्य-प्रक्रियामें किसी प्रकारका उपचार किये बिना मन्त्र एवं तपकी शक्तिसे रोगका नाश किया जाता था। अतः इस प्रक्रियामें रोगीके शरीरपर किसी प्रकारके प्रतिकूल प्रभाव (Reaction)-द्वारा हिंसा (हानि)-की सम्भावना नहीं रहती थी, किंतु इसके विपरीत आङ्गिरसी चिकित्सा-पद्धतिमें रोगीके शरीरसे सम्बद्ध विभिन्न उपचार किये जाते थे। इन दोनों प्रकारकी चिकित्सा-पद्धतियोंका समावेश अथर्ववेदमें होनेके कारण इसे 'अथर्वाङ्गिरस' वेद कहा गया है। '**पञ्चविंशब्राह्मण**'में अथर्वाने भेषजकी प्रक्रियाको दैवी ओषधियोंकी भाँति गुणकारी बतलाया है—

भेषजं वै देवानामाथर्वणो भैषज्यायारिष्टायै।

(१६।१०।१०)

अथर्ववेदमें प्रतिपादित भैषज्य-विज्ञानका पूर्ण एवं विस्तृत विवरण '**कौशिक गृह्यसूत्र**' में प्राप्त होता है। अथर्ववेदसे सम्बद्ध इस गृह्यसूत्रमें भैषज्यके लिये एक पृथक् अध्याय है। कौशिक गृह्यसूत्रमें भैषज्यका लक्षण करते हुए सूत्रकारने कहा है—'**लिङ्ग्युपतापो भैषज्यम्॥**' (२५।२)

रोगको लिङ्ग अर्थात् चिह्नोंद्वारा ज्ञात होनेके कारण

१-आयुर्वेदं नामोपाङ्गमथर्ववेदस्य (सुश्रुत० १।१।६)।
अथर्वान्तर्गतं सम्यगायुर्वेदं च लब्धवान् (भावप्रकाश पू० खं० १।५८) आदि।

लिङ्गी कहा जाता है। शरीरमें होनेवाले ज्वर, भ्रम, पीडा आदि रोगजनित विकार ही रोगके चिह्न हैं। निदानद्वारा रोगके उप यानी अत्यन्त समीप जाकर मन्त्र एवं ओषधि आदि उपचारोंसे रोग (ताप)-का विनाश करना 'उपताप' या 'भैषज्य' कहा जाता है।

रोग दो प्रकारके हो सकते हैं—पापजनित तथा आहारादिजनित। यद्यपि दोनों प्रकारके रोगोंके चिह्न समान ही ज्ञात होते हैं, तथापि जिन रोगोंकी उत्पत्ति आहारादिकी विकृतिद्वारा ज्ञात न हो सके तथा जिनपर आहारजनित रोगोंकी औषधियाँ सफल न हों, उन रोगोंको पापजनित मानकर आथर्वणिक भैषज्य-प्रक्रियाद्वारा उनका विनाश करना चाहिये। आहारादिजनित व्याधियोंपर आङ्गिरसी प्रक्रियाद्वारा विजय प्राप्त करनी चाहिये। कौशिक गृह्यकर्ताने यह अभिमत '**वचनादन्यत्**' (२५।३) सूत्रद्वारा प्रकट किया है।

आयुर्वेदशास्त्रके प्राचीन आचार्योंने भी अथर्ववैदिक भैषज्य-प्रक्रियाके उपर्युक्त सिद्धान्तको प्राय: यथावत् स्वीकार किया है। इस सम्बन्धमें चरकसंहिताका निम्नाङ्कित अंश उल्लेखनीय है—

'**तद् द्विविधं व्यपाश्रयभेदात्, दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं चेति। तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणि-मङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासदानस्वस्त्ययनप्रणिपात-गमनादि। युक्तिव्यपाश्रयं संशोधनोपशमने चेष्टाश्च दृष्टफला:।**'

(विमान० ८।७४)

अर्थात् भेषज आश्रयभेदसे दो प्रकारका होता है—१-दैवव्यपाश्रय तथा २-युक्तिव्यपाश्रय। इनमें मन्त्र, औषधि, मणिधारण, मङ्गलपाठ, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, दान, स्वस्त्ययनपाठ, प्रणिपात (देवताओंको नम्रतापूर्वक नमस्कार), गमन (तीर्थयात्रा) आदि क्रियाओंद्वारा जो चिकित्सा होती है, उसे 'दैवव्यपाश्रय भेषज' कहते हैं। संशोधन (वमन, विरेचन आदि), उपशमन और प्रत्यक्ष फल देनेवाली सभी क्रियाओंको 'युक्तिव्यपाश्रय भेषज' कहते हैं।

अथर्ववैदिक ओषधि-प्रक्रियाएँ

अथर्ववेदसंहिताके एकादश काण्डके चतुर्थ सूक्तका सोलहवाँ मन्त्र है—

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधय: प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥

इस मन्त्रसे यह संकेत प्राप्त होता है कि अथर्ववेदके अनुसार भैषज्य-कर्मके लिये कई प्रकारकी ओषधियाँ प्रयुक्त की जाती थीं, जिन्हें प्रयोगके अनुसार चार मुख्य विभागोंमें विभाजित किया गया है—१-आथर्वणी, २-आङ्गिरसी, ३-दैवी तथा ४-मनुष्यजा। सायण आदि सभी व्याख्याकारोंने इस मन्त्रका जो अर्थ किया है, उनके अनुसार अथर्वा नामक ऋषिद्वारा सृष्ट ओषधियाँ 'आथर्वणी' तथा अङ्गिरा ऋषिद्वारा प्रवर्तित ओषधियाँ 'आङ्गिरसी' और देवोंद्वारा सृष्ट ओषधियाँ 'दैवी' एवं मनुष्योंद्वारा प्रवर्तित ओषधियाँ 'मनुष्यजा' हैं। इस मन्त्रमें एक विशिष्ट भाव और निहित है, जो इस प्रकार है—

आथर्वणी ओषधि-प्रक्रियाएँ वे हैं, जो अथर्ववेदोक्त मन्त्र आदिके प्रयोगोंद्वारा रोगका शमन करनेमें समर्थ होती हैं। इसमें रोगीके शरीरका संयोग अपेक्षित नहीं है। दूसरी आङ्गिरसी ओषधियाँ रोगीके शरीरावयवोंमें प्रवाहित सप्तधातुमय रससे संयुक्त होकर रोगका शमन करती हैं। इनका प्रयोग रोगीके शरीरके आन्तरिक एवं बाह्य संयोगसे ही हो सकता है। तीसरी दैवी ओषधि-प्रक्रियाएँ वे हैं, जो रोगसे साक्षात् सम्बद्ध न होते हुए भी रोगके कारणभूत दैव या दुर्दृष्टके निवारणार्थ की जाती हैं। इस प्रकारकी प्रक्रियाएँ भी अथर्ववेदमें शान्तिक एवं पौष्टिक कर्मोंके प्रयोगके रूपमें वर्णित हैं। शान्तिक एवं पौष्टिक विधानोंके प्रयोगसे रोगीका दुर्दैव अर्थात् पाप विनष्ट होता है तथा इससे रोगकी मुक्तिमें सहायता मिलती है। अत: इसे 'दैवी' कहा गया है।

चौथे प्रकारकी ओषधि-प्रक्रिया मनुष्यजा है। इसमें रोगीके शीघ्र स्वास्थ्य-लाभके लिये अन्य ओषधियोंके अतिरिक्त स्वच्छ वातावरण, सौमनस्य एवं अच्छी शुश्रूषाकी परम आवश्यकता होती है। यह सब मनुष्योंद्वारा ही सम्यक् रूपसे किया जा सकता है। अत: इसको 'मनुष्यजा' कहा गया है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञानने भी शीघ्र स्वास्थ्य-लाभके लिये स्वच्छता, शुश्रूषा तथा सद्व्यवहारका महत्त्व स्वीकार किया है। अथर्ववैदिक चिकित्सा-विज्ञानमें इस प्रणालीको मनुष्यजा शब्दसे व्यवहृत करते हुए इसकी

महत्ता स्वीकार की गयी है।

अथर्ववैदिक चिकित्सा-पद्धतिमें इन चारों प्रकारकी अथवा अपेक्षानुसार तीन या दो प्रकारकी ओषधियोंका एक साथ प्रयोग किया जाता था। इसके उदाहरणार्थ हम श्वित्रके निवारण-हेतु किये जानेवाले प्रयोगको ले सकते हैं। इस सम्बन्धमें कौशिक गृह्यसूत्रमें इस प्रकार निर्दिष्ट है—

नक्तं जाता सुपर्णो जात इति मन्त्रोक्तं शकृदा लोहितं प्रघृष्यालिम्पति॥

(२६।२२)

श्वित्रके उपचारके लिये भृङ्गराज, हरिद्रा, इन्द्रवारुणी आदि ओषधियोंको पीसकर '**नक्तं जाता०**' (अथर्व० १।२३।१) तथा '**सुपर्णो जातः०**' (१।२४।१) सूक्तोंसे उनका अभिमन्त्रण करना चाहिये। यह आथर्वण प्रक्रिया है। तदनन्तर श्वित्रके स्थानपर उनका लेप करना चाहिये, यह क्रिया आङ्गिरसी है। कौशिक गृह्यसूत्र—'**मारुतान्यपिहितः**' (२६।२४)-के विधानानुसार दैवी ओषधि-प्रक्रियाके रूपमें मारुत-कर्मों (वृष्टिकर्मों)-को भी श्वित्रके निवारणहेतु करना चाहिये। यद्यपि मारुतकर्म भैषज्याध्यायके अन्तर्गत नहीं है तथापि रोगीके पूर्व दुर्दृष्टके निवारणार्थ इसका विधान किया गया है, यह स्पष्ट होता है। मनुष्यजा ओषधि-प्रक्रियाके रूपमें रोगीकी शुश्रूषा आदिकी आवश्यकता तो स्वभावतः सिद्ध है। इस प्रकार उक्त मन्त्रद्वारा रोगोंकी चिकित्साहेतु अथर्ववेदमें चारों प्रकारकी प्रक्रियाओंका एक साथ अथवा आवश्यकतानुसार दो या तीनका प्रयोग प्रतिपादित किया गया है।

अथर्ववेद (१।१।१)-के भाष्यमें आचार्य सायणने भी रुद्रभाष्यकारका मत उद्धृत करते हुए स्पष्ट किया है कि संहिताके जो सूक्त आथर्वणिक चिकित्सा-पद्धतिमें विनियुक्त हैं, उनके द्वारा आज्य आदि त्रयोदश द्रव्योंका होम तथा उपस्थापन भी चिकित्सकीय क्रियाके साथ किया जाना चाहिये। आयुर्वेद अथवा अन्य लौकिक उपचारोंमें रोगोंके शमनार्थ जिन ओषधियोंका उपयोग प्रचलित है, उनका तदनुसार उपयोग करते हुए भी अथर्वसंहिताके तत्सम्बन्धी मन्त्रोंका वाचन आथर्वणी चिकित्साके रूपमें करना चाहिये, यह कौशिकका अभिमत है। कौशिक गृह्यसूत्रका वचन इस प्रकार है—

ओषधिवनस्पतीनामनूक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानाम्॥

(३२।२६)

अभिप्राय यह है कि जिन रोगोंके शमनार्थ किसी प्रकारकी ओषधि—वनस्पतिका प्रयोग नहीं प्राप्त होता, उनमें भी अन्य चिकित्सा-प्रयोगोंके साथ भैषज्यके अथर्ववेदीय मन्त्रोंका पाठ करना चाहिये। इससे ओषधियोंका प्रभाव अधिक हो जाता है।

अथर्ववेदमें अष्टाङ्ग-आयुर्वेदका मूल

भारतीय दृष्टिसे सम्पूर्ण भैषज्य-विज्ञान आठ भागोंमें विभक्त किया जाता है—१-शल्य, २-शालाक्य, ३-कायचिकित्सा, ४-भूतविद्या, ५-कौमारभृत्य, ६-अगदतन्त्र, ७-रसायनतन्त्र तथा ८-वाजीकरण। भैषज्य-विज्ञानके ये सभी अङ्ग अथर्ववेदमें उपलब्ध होते हैं यथा—

१-शल्य—शल्यतन्त्रका आधुनिक रूप ही शल्यविज्ञान है। अथर्ववेदमें मूत्र एवं पुरीषका निरोध होनेपर '**विषितं तेऽस्ति बिलम्०**' आदि मन्त्रोंसे चर्मशलाका या लौहशलाकाद्वारा शल्यक्रिया करनेका उल्लेख है। (कौशिक गृह्य० २५।१५ **वस्तिं विष्यति॥**) पशुओंकी कृमिचिकित्सामें भी शल्यक्रियाका प्रयोग अथर्ववेदमें उल्लिखित है—'**उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु**' आदि मन्त्रोंद्वारा कृमियुक्त स्थानकी दर्भसे शल्यक्रिया की जाती है '**दर्भैरभ्यस्यति**' (कौ०गृ० २७।२३)। इसी प्रकार अन्य शल्यक्रियाओंका भी उल्लेख है। गण्डमालाके भैषज्य-प्रसंगमें उदकरक्षिका एवं मशक नामक जीवोंद्वारा दूषित रक्त निकालनेका भी विधान किया गया है। यथा—

उदकरक्षिकामशकादिभ्यां दंशयति॥

(कौशिक गृह्य० ३०।१६)

२-शालाक्य—ग्रीवासे ऊपरी भागकी आन्तरिक चिकित्सा शालाक्यके अन्तर्गत आती है। अथर्ववेदमें शिरोरोगके लिये विभिन्न प्रकारके उपचार प्राप्त होते हैं। शिरोवेदनाकी निवृत्तिके लिये '**जरायुजः०**' (१।१२।१) आदि मन्त्रोंद्वारा नासिकामें घृतस्रावणका उल्लेख कौशिक गृह्यसूत्रमें किया गया है, यथा—'**घृतं नस्तः**' (२६।८)। अक्षिरोगोंके प्रशमनार्थ सर्षपक्षुपके मूल क्षीरलेहको '**आबयो अनाबयः०**' (अथर्व० ६।१६।१) आदि मन्त्रोंसे आँखोंमें अञ्जन करना चाहिये, यथा—'**क्षीरलेहमाङ्क्ते**' (कौ०गृ० ३०।५)। इसी प्रकार कर्ण, नासिका एवं मुख आदिसे सम्बन्धित रोगोंके लिये भी अथर्ववेदमें उपचार वर्णित हैं। केशोंकी वृद्धि, उन्हें काला तथा सुन्दर रखना एवं गंजेपनके

निवारण आदिके लिये भी ओषधियोंका निर्देश अथर्वसंहितामें प्राप्त होता है।

३-कायचिकित्सा—कायचिकित्साके अन्तर्गत उदर एवं शरीरसे सम्बद्ध ज्वर, यक्ष्मा, पक्षाघात, स्राव, जलोदर, उदरशूल, वात-पित्त-कफके अनेकविध रोग आते हैं। कायसम्बन्धी चिकित्साका उल्लेख अथर्ववेदके भैषज्यप्रकरणमें सर्वाधिक एवं विस्तृत रूपमें प्राप्त होता है। ज्वरको अथर्वसंहितामें 'तक्मन्' संज्ञा दी गयी है तथा इसके कई प्रभेद भी निर्दिष्ट किये गये हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारके ज्वरोंके लिये ओषधियाँ, क्वाथ एवं अन्य उपचार वर्णित हैं। यक्ष्माके भी क्षेत्रिय, राजयक्ष्मा आदि अनेक भेद एवं उपचार बतलाये गये हैं। रक्तस्रावके उपचारार्थ पृश्निपर्णीका लेपन (कौ०गृ० २६। ३६) तथा मूत्र-पुरीषस्रावके लिये फाण्ट[१] पिलाने (कौ०गृ० २५। १८)-का विधान किया गया है। पक्षाघातमें चङ्क्रममृत्तिकासे मर्दन एवं धूपनद्वारा चिकित्सा की जाती है (कौ०गृ० ३१। १८-१९)। जलोदरके उपचारमें उदश्वित् (अर्धजलमिश्रित मथित दधि)-में दूध एवं मधु मिलाकर पिलाया जाता है (कौ० गृ० ३१। २३-२४)। श्लेष्म, वात, पित्त-विकारोंके लिये घृत एवं मधु-तेल आदिका भक्षण निर्दिष्ट किया गया है (कौ०गृ० २६। १)। इनके अतिरिक्त कुष्ठ, हृद्रोग, पाण्डुरोग, अत्यन्त तृषा, उदरशूल आदि अनेक रोगोंकी भैषज्य-प्रक्रिया कायचिकित्साके रूपमें अथर्ववेदमें वर्णित है।

४-भूतविद्या—इसके अन्तर्गत यक्ष, पिशाच, असुर, नाग आदिके आवेशसे दूषित चित्तवाले एवं उन्मत्त व्यक्तियोंकी चिकित्सा आती है। इससे सम्बद्ध उपचार भी अथर्ववेदमें वर्णित हैं। भयभीत व्यक्तिको सदम्पुष्पा-मणिके बन्धनद्वारा भयमुक्त किया जाता है (कौ०गृ० २८।७)। सर्वौषधिका लेपन आदि भी एतदर्थ उल्लिखित है (कौ०गृ० २६। २९)।

५-कौमारभृत्य—बालरोगोंकी चिकित्साको 'कौमारभृत्य' कहा गया है। समस्त स्त्रीरोग तथा प्रसूतितन्त्र भी इसमें अन्तर्भूत किये जा सकते हैं। बालरोगोंकी निवृत्तिके लिये **'यस्ते स्तनः०'** (अथर्व० ७। १०। १) ऋचासे स्तनपानका विधान है (कौ०गृ० ३२। १)। बालकृमियोंके निवारणार्थ बालकको नवनीतप्राशन कराना चाहिये (कौ०गृ० ३२। १) तथा तप्त मुसलद्वारा बालकके तालुको सेंकना चाहिये (कौ०गृ० २९। २२)। प्रसूति एवं स्त्री-सम्बन्धी रोगोंके भैषज्य भी अथर्ववेदमें विशद रूपसे प्राप्त होते हैं। गर्भस्रावके निवारणार्थ एवं गर्भसंधारण आदिके लिये विभिन्न चिकित्साओंका उल्लेख है। सुखपूर्वक प्रसवके लिये भी अथर्वसंहितामें कई विधान प्राप्त होते हैं।

६-अगदतन्त्र—विषतन्त्रका ही पर्याय अगदतन्त्र है। विभिन्न प्रकारके विषैले जीवोंसे रक्षा एवं विषोंके प्रतिकार आदिके लिये चिकित्सा अगदतन्त्रके अन्तर्गत आती है। अथर्ववेदमें स्कन्द नामक विशेष विषकी निवृत्तिके लिये **'वारिदं वारयातै०'** (अथर्व० ४।७।१) आदि मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित जलका पान विषग्रस्त व्यक्तिको कराया जाता है (कौ०गृ० २८। १)। मलद्वारा विष निकालनेके लिये मदन (धतूरे)-के फलोंको खिलाया जाता है (कौ०गृ० २८। ४)। हरिद्राके साथ घृत पिलाकर भी विषका उपचार किया जाता है। दष्ट शरीरावयवको वस्त्रद्वारा बाँधे जानेका तथा विषग्रस्त व्यक्तिकी शिखाको भी बाँधे जानेका विधान किया है (कौ०गृ० २९। २—४)। दष्ट अवयवको तृण जलाकर प्रतप्त किया जाता है। विषके प्रभावका निराकरण करनेहेतु मधुमक्षिकाके नीडको भक्षण करानेका विधान भी उल्लिखित है (कौ०गृ० २९। २८)। इस प्रकार विषनिर्हरणके नाना उपाय अथर्ववेदसे ज्ञात होते हैं।

७-रसायनतन्त्र—अथर्वसंहितामें रसायनतन्त्रसे सम्बन्धित अधिक मन्त्र तो नहीं प्राप्त होते, किंतु कतिपय पौष्टिक कर्मोंके अन्तर्गत धातुओंके निर्माण एवं उपयोगकी प्रक्रियाका संकेत प्राप्त होता है। अथर्ववेद (१९। २६। ३)-के अनुसार हिरण्यमणिधारणसे आयुष्य एवं वर्चस्की वृद्धि होती है। लोहे, चाँदी एवं सोनेके सम्मिश्रणसे निर्मित नवशालाकमणिके संधारणसे प्राणशक्तिकी वृद्धि होती है (अथर्व० ५। २८। १)। सीस नामक एक विशिष्ट धातुकी प्रशंसामें तो एक सम्पूर्ण सूक्त ही कहा गया है (अथर्व० १। १६। १)। इस धातुके प्रयोगसे समस्त शत्रुओंकी पराजय होती है। इस प्रकार अथर्ववेदमें रसायनतन्त्रका भी स्पष्ट प्रतिपादन है।

८-वाजीकरण—वीर्य एवं शक्ति-प्राप्त्यर्थ की जानेवाली

१-यह एक तरहका काढ़ा है, जो औषध-चूर्णको गरम पानीमें भिगोकर छान लेनेसे बनता है। औषध-चूर्णकी जानकारी विज्ञ वैद्यसे कर लेनी चाहिये।

चिकित्सा वाजीकरण है। शक्तिहीन पुरुषोंको शक्तिशाली बनाना इसका उद्देश्य है। इस चिकित्सासे सम्बन्धित मन्त्र भी अथर्ववेदमें प्राप्त होते हैं। वीर्यहीनताको कौशिकने '**ग्राम्य व्याधि**' माना है। इन्द्रिय-पुष्टिके लिये सर्वसुरभिचूर्णका लेपन '**निर्दुरर्मण्य०**' (अथर्व० १६। २। १) आदि मन्त्रोंसे किया जाता है। स्त्रियोंके वन्ध्यात्वहरणकी चिकित्सा भी वाजीकरणके अन्तर्गत आती है। स्त्रियोंसे सम्बद्ध इस प्रकारके अनेक विधान अथर्ववेदके सूक्तोंमें उपलब्ध हैं।

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि भैषज्य-विज्ञानके समस्त अङ्गोंका उल्लेख अथर्ववेदमें प्राप्त होता है। अथर्ववेदकी चिकित्सा-पद्धति अत्यन्त उन्नत स्तरपर रही है। विभिन्न रोगोंके शमनमें उपयोगी—अजशृङ्गी, अपामार्ग, अरुन्धती, आञ्जन, उदुम्बर, उपजीका, ऋतावरी, कुष्ठ, गुग्गुल, चीपद्रु, जङ्गिड, दर्भ, नितत्नी, पाटा, पिप्पली, पृश्निपर्णी, मधुला, रेवती, रोहणी, लाक्षा, विषाणका, शतवार, सदम्पुष्पा, सहस्रपर्णी, सोम आदि वनस्पतियोंका उल्लेख अथर्वसंहिताके मन्त्रोंमें प्राप्त होता है। स्वास्थ्य-लाभके लिये अस्तृत, जङ्गिड, दर्भ, पर्ण, वरण, शतवार, शङ्ख, त्रिवृत्, अर्क, परिहस्त, दशवृक्ष आदि मणियोंके धारणका विधान भी अथर्ववेदमें उल्लिखित है।

सम्प्रति अथर्ववेदोक्त वनस्पतियाँ एवं मणियाँ किस रूपमें उपलब्ध हैं तथा अथर्ववेदकी प्रक्रियाके अनुसार इनका उपयोग अब भी कितना लाभकारी है, इस क्षेत्रमें प्रायोगिक अनुसंधान करना अत्यन्त उपादेय होगा। अथर्ववेदकी विलुप्त भैषज्य-परम्परापर शोधके माध्यमसे प्राचीन भारतीय चिकित्सा-पद्धतिके निगूढ महत्त्वपूर्ण तथ्य अवश्य उपलब्ध किये जा सकते हैं।

प्रकृति-प्रदत्त आठ चिकित्सक

(डॉ० श्रीविद्यानन्दजी 'ब्रह्मचारी' एम्०ए०, पी-एच्०डी०, विद्यावाचस्पति)

प्रकृति और मानव-शरीरमें जन्मजात साहचर्य रहा है। यह एक सर्वमान्य बात है कि मानव प्रकृतिकी शस्य-श्यामल-गोदमें जन्म लेता, पलता और उसीके विस्तृत प्रांगणमें क्रीडा कर अन्तर्धान हो जाता है।

इस शरीरका निर्माण भी धरती (मिट्टी), जल, अग्नि, आकाश और वायु—इन पाँच प्राकृतिक तत्त्वोंसे हुआ है। ये पाँचों तत्त्व मानव-जीवनके लिये प्रत्येक क्षण कल्याणप्रद हैं। प्रकृतिका यह विचित्र विधान है कि जिन तत्त्वोंसे प्राणीके शरीरका निर्माण हुआ, पुनः उन्हीं तत्त्वोंसे उसकी प्राकृतिक चिकित्साएँ (Natural Treatments) भी होती हैं।

प्रकृतिद्वारा प्रदत्त आठ ऐसे चिकित्सक हमें प्राप्त हैं, जिनके सहयोग तथा उचित सेवनसे हम यथासम्भव आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। वे चिकित्सक हैं—१-वायु, २-आहार, ३-जल, ४-उपवास, ५-सूर्य, ६-व्यायाम, ७-विचार और ८-निद्रा। यहाँ संक्षेपमें इनकी चर्चा की जा रही है—

१-वायु—प्रसिद्धि है कि मानव-जीवनमें वायुका स्थान जलसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। वेदमें कहा गया है कि वायु अमृत है, वायु ही प्राणरूपमें स्थित है। प्रातःकाल वायु-सेवन करनेसे देहकी धातुएँ और उपधातुएँ शुद्ध और पुष्ट होती हैं, मनुष्य बुद्धिमान् और बलवान् बनता है, नेत्र और श्रवणेन्द्रियकी शक्ति बढ़ती है तथा इन्द्रिय-निग्रह होता है एवं शान्ति मिलती है। प्रातःकालीन शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु पुष्पोंके सौरभको लेकर अपने पथमें सर्वत्र विकीर्ण करता है, अतः उस समय वायु-सेवन करनेसे मन प्रफुल्लित और प्रसन्न रहता है, साथ ही आनन्दकी अनुभूति भी होती है।

शुद्ध वायु, शुद्ध जल, शुद्ध भूमि, शुद्ध प्रकाश एवं शुद्ध अन्न यह 'पञ्चामृत' कहलाता है। प्रातःकालीन वायु-सेवन तथा भ्रमण सहस्रों रोगोंकी एक रामबाण औषधि है। शरीर, मन, प्राण, ब्रह्मचर्य, पवित्रता, प्रसन्नता, ओज, तेज, बल, सामर्थ्य, चिर-यौवन और चिर-उल्लास बनाये रखनेके लिये शुद्ध वायु-सेवन तथा प्रातःकालीन भ्रमण अति आवश्यक है। प्रातःकालका वायु-सेवन 'ब्राह्मवेलाका अमृतपान' कहा गया है।

२-आहार—शरीर और भोजनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रत्येक व्यक्तिको सात्त्विक भोजन करना चाहिये; क्योंकि सात्त्विक आहारसे शरीरकी सब धातुओंको लाभ पहुँचता है।

एक समय ईरानके एक बादशाहने अपने यहाँके एक श्रेष्ठ हकीमसे प्रश्न किया कि 'दिन-रातमें मनुष्यको कितना खाना चाहिये?' उत्तर मिला 'छः दिरम' अर्थात् ३९ तोला। फिर पूछा, 'इतनेसे क्या होगा?' हकीमने कहा—'शरीर-पोषणके लिये इससे अधिक नहीं खाना चाहिये। इसके उपरान्त जो कुछ खाया जाता है, वह केवल बोझ ढोना और उम्र खोना है।'

मनुष्यको स्वल्प आहार करना चाहिये—'**स्वल्पाहारः सुखावहः।**' थोड़ा आहार करना स्वास्थ्यके लिये उपयोगी होता है। आहार उतना ही करना चाहिये, जितना कि सुगमतासे पच सके।

शुद्ध एवं सात्त्विक आहार शरीरका पोषण करनेवाला, शीघ्र बल देनेवाला, तृप्तिकारक, आयुष्य और तेजोवर्धक, साहस तथा मानसिक शक्ति और पाचनशक्तिको बढ़ानेवाला है। आहारसे ही शरीरमें सप्त धातुएँ बनती हैं। आयुर्वेदाचार्य महर्षि चरकने भी लिखा है कि '**देहो ह्याहारसम्भवः**'—शरीर आहारसे ही बनता है। 'उपनिषद्'में भी आहारके विषयमें कहा गया है कि '**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।**' (छान्दोग्योपनिषद् ७।२६।२) अर्थात् आहारकी शुद्धिसे सत्त्वकी शुद्धि होती है, सत्त्वशुद्धिसे बुद्धि निर्मल और निश्चयी बन जाती है। फिर पवित्र एवं निश्चयी बुद्धिसे मुक्ति भी सुगमतासे प्राप्त होती है।

गरिष्ठ भोजन अधिक हानिप्रद होता है। सच्ची भूख लगनेपर ही भोजन करना चाहिये। इससे यथेष्ट लाभ मिलता है। भोजन शान्तिपूर्वक करना चाहिये।

३-जल—स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये जलका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सोकर उठते ही स्वच्छ जल पीना स्वास्थ्यके लिये बड़ा ही हितकर कहा गया है। लिखा है कि—

सवितुः समुदयकाले प्रसृतीः सलिलस्य पिबेदष्टौ।
रोगजरापरिमुक्तो जीवेद् वत्सरशतं साग्रम्॥

अर्थात् सूर्योदयके समय (सूर्योदयसे पहले) आठ घूँट जल पीनेवाला मनुष्य रोग और वृद्धावस्थासे मुक्त होकर सौ वर्षसे भी अधिक जीवित रहता है। कुएँका ताजा जल अथवा ताम्रपात्रमें रखा हुआ जल पीनेके लिये अधिक अच्छा है। खानेसे एक घंटा पूर्व अथवा खानेके दो घंटे बाद जल पीना चाहिये। एक व्यक्तिको एक दिनमें कम-से-कम ढाई सेर जल पीना चाहिये, इससे रक्तसंचार सुचारु रूपसे होता है।

४-उपवास—धर्मशास्त्रोंमें उपवासका बहुत महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। उपवाससे शरीर, मन और आत्मा सभीकी उन्नति होती है। उपवाससे शरीरके त्रिदोष नष्ट हो जाते हैं। आँतोंको अवशिष्ट भोजनके पचानेमें सुविधा मिलती है तथा शरीर स्वस्थ और हलका-सा प्रतीत होता है। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उपवास बहुत ही आवश्यक है। उपवास करनेसे मनुष्यकी आत्मिक शक्ति बढ़ती है। कहते हैं कि यदि महीनेमें दोनों एकादशियोंके निराहार-व्रतका विधिवत् पालन किया जाय तो प्रकृति पूर्ण सात्त्विक हो जाती है। जिन्हें उपवास करनेका अभ्यास नहीं है, उन्हें चाहिये कि वे सप्ताहमें एक दिन एक बार ही भोजन करें और धीरे-धीरे आगे चलकर सम्पूर्ण दिवस उपवास रखनेका व्रत लें।

उपवासका दिन भगवद्भजन, सत्साहित्यके स्वाध्याय आदि शुभ कर्मोंमें व्यतीत करना चाहिये। उपवास करनेवालोंको चाहिये कि वे अपने मनको चारों ओरसे खींचकर आत्मचिन्तनमें लगायें, धार्मिक विषयोंकी चर्चा करें और संत-महात्माओंके पास बैठकर उपदेश ग्रहण करें। इस प्रकारके उपवाससे शारीरिक और मानसिक आरोग्य प्राप्त होता है।

५-सूर्य—जीवनकी रक्षा करनेवाली सभी शक्तियोंका मूल स्रोत सूर्य है। '**सूर्यो हि भूतानामायुः।**' समस्त चराचर भूतोंका जीवनाधार सूर्य है। यदि सूर्य न होते तो हम लोग एक क्षण भी जीवित न रह पाते। जीवनमें सूर्य-रश्मियोंका महत्त्व बहुत अधिक है। सूर्यकी किरणें शरीरके ऊपर पड़नेसे हमारे शरीरके अनेकों रोग-कीटाणु नष्ट हो जाते हैं।

सूर्यके प्रकाशसे रोगोत्पादक शक्ति नष्ट हो जाती है। सूर्यसे आरोग्य-प्राप्तिके विषयमें अथर्ववेदमें लिखा है—

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोऽपि धायि ते।
सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः॥

(५।३०।१५)

अर्थात् हे जीव! तेरा प्राण विनाशको न प्राप्त हो और तेरा अपान भी कभी न रुके अर्थात् तेरे शरीरके श्वास-प्रश्वासकी क्रिया कभी बंद न हो। सबका स्वामी सूर्य—सबका प्रेरक परमात्मा तुझे अपनी व्यापक बलकारिणी किरणोंसे ऊँचा उठाये रखें—तेरे शरीरको और जीवनी-शक्तिको गिरने न दें।

सूर्यका प्रभाव मनुष्यके शरीर एवं मनपर बहुत गहरा पड़ता है। चिकित्सकोंका मत है कि सूर्य-रश्मि (Sun-beams)-के सेवनसे प्रत्येक प्रकारके रोग शान्त किये जा सकते हैं। यजुर्वेदमें कहा गया है कि चराचर प्राणी और समस्त पदार्थोंकी आत्मा तथा प्रकाश होनेसे परमेश्वरका नाम 'सूर्य' है '**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**'—अतएव इन्हें वेदमें 'जीवनदाता' कहा गया है।

६-व्यायाम—आयुर्वेदका मत है कि व्यायाम करनेसे शरीरका विकास होता है, शरीरके अङ्गोंकी थकावट नष्ट हो जाती है, निद्रा खूब आती है और मनकी चञ्चलता दूर होती है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा आलस्य मिट जाता है। शारीरिक सौन्दर्यकी वृद्धि होती है और मुखकी कान्तिमें निखार आता है।

आयुर्वेदके मर्मज्ञ आचार्य वाग्भटने लिखा है—

लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः।
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते॥

(अष्टाङ्गहृदय सूत्र० २।१०)

तात्पर्य यह है कि व्यायामसे शरीरमें स्फूर्ति आती है, कार्य करनेकी शक्ति बढ़ती है, जठराग्नि प्रज्वलित होती है, मोटापा नहीं रहता तथा शरीरके सब अङ्ग पुष्ट होते हैं। साथ ही यथोचित व्यायामसे प्रकृतिके विरुद्ध गरिष्ठ भोजन भी शीघ्र पच जाता है तथा शरीरमें शिथिलता जल्दी नहीं आ पाती। जीवनमें प्रसन्नता, स्वास्थ्य एवं सौन्दर्यके लिये व्यायाम नितान्त आवश्यक है। सदाचार और व्यायामके बलपर पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन सम्भव हो सकता है।

७-विचार—विचारशक्तिमें एक महान् उद्देश्य छिपा रहता है। इसलिये हमें अपने विचारोंको सदा-सर्वदा शुद्ध एवं पवित्र रखना चाहिये। विचारोंका प्रभाव सीधे स्वास्थ्यपर पड़ता है। सांकल्पिक दृढता तथा सात्त्विक चिन्तन-मनन रोगोंकी निर्मूलताके लिये बहुत आवश्यक है। दूषित विचारोंसे न केवल मन विकृत होकर रुग्ण होता है, अपितु शरीर भी अनारोग्य हो जाता है। सम्यक् सत्-चिन्तन एवं सम्यक् सद्विचार एक जीवनी-शक्ति है। अतः आरोग्य-लाभके लिये मनुष्यको विचार-शक्तिका आश्रय लेना चाहिये।

८-निद्रा—जिस प्रकार स्वास्थ्य-रक्षाके लिये शुद्ध वायु, जल, सूर्य और भोजन आदिकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार यथोचित निद्रा भी परमावश्यक है। एक स्थलपर कहा गया है—

निद्रा तु सेविता काले धातुसाम्यमतन्द्रिताम्।
पुष्टिं वर्णं बलोत्साहं वह्निदीप्तिं करोति हि॥

अर्थात् रात्रिमें ठीक समयपर सोनेसे धातुएँ साम्य-अवस्थामें रहती हैं और आलस्य दूर होता है। पुष्टि, कान्ति, बल और उत्साह बढ़ता है तथा अग्नि दीप्त होती है। स्वास्थ्यके लिये प्रगाढ निद्रा आवश्यक है। रात्रिमें सत्-विचारोंका स्मरण करते हुए शान्तिपूर्वक सोना चाहिये। सोते समय शरीरका वस्त्र ढीला होना चाहिये। उत्तम स्वास्थ्यके लिये सात्त्विक निद्रा आवश्यक है। दिनमें सोनेसे विविध प्रकारकी व्याधियाँ आ घेरती हैं।

यथाकाल निद्रासे निम्नलिखित लाभ होते हैं—१-नियमपूर्वक सोनेसे सारी श्रान्ति दूर हो जाती है। २-नये काम करनेकी नयी शक्ति प्राप्त होती है। ३-आयुर्बल बढ़ता है। ४-स्वप्नदोष, धातुदौर्बल्य, सिरके रोग, आलस्य, अल्पमूत्र और रक्तविकार आदिसे रक्षा होती है। ५-मन तथा इन्द्रियोंको विश्राम मिलता है।

सोनेसे पहले मनको समस्त शोक, चिन्ता और भयसे रहित कर लेना चाहिये तथा प्रसन्नता, संतोष और धैर्यके साथ सफलताकी कामना करनी चाहिये। इससे आप प्रातःकाल अपनेमें महान् परिवर्तन पायेंगे।

उपर्युक्त प्रकृति-प्रदत्त आठ चिकित्सकोंके समुचित सेवनसे मनुष्य-जीवन स्वस्थ, समृद्ध, सुख-सम्पत्ति तथा आनन्दसे परिपूर्ण और आयुष्मान् होता है।

आयुष्टे शरदः शतम्

(काशीपीठाधीश्वर श्रीरामशरणाचार्यजी)

श्रीमद्भागवतपुराण (२।७।२१)-में बादरायण श्रीकृष्ण-द्वैपायन वेदव्यासजीने भगवान् धन्वन्तरिकी स्तुतिमें बड़ी सुन्दर बात कही है—

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्ति-
र्नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुज आशु हन्ति।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध
आयुश्च वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके॥

अर्थात् इस लोकमें अवतार लेकर आयुर्वेद शास्त्रका अनुशासन करनेवाले स्वनामधन्य भगवान् धन्वन्तरिके नामस्मरणसे ही बड़े-बड़े रोगियोंके रोग नष्ट हो जाते हैं और यह कोई मात्र अर्थवाद नहीं है, '**विश्वासः फलदायकः।**' हमारे धर्मशास्त्र विश्वासकी धुरीपर टिके हैं, वे कहते हैं—

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

अर्थात् मन्त्रमें, तीर्थमें, ब्राह्मणमें, देवतामें, दैवज्ञमें, औषधिमें तथा गुरुमें जो जैसी भावना (निष्ठा) रखता है, उसे फल भी तदनुरूप ही मिलता है।

चिकित्सा-शास्त्र, ज्योतिष तथा तन्त्र-मन्त्रके ग्रन्थ प्रत्यक्ष शास्त्रोंमें आते हैं, क्योंकि चिकित्सा-शास्त्रोंमें उल्लिखित औषधिका रोगानुसार सेवन करते ही रोगका नष्ट होना उसकी सत्यताका प्रत्यक्षीकरण करा देता है। इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्रानुसार वर्षों पूर्व यह घोषणा कर दी जाती है कि अमुक दिन अमुक समयपर सूर्य या चन्द्र-ग्रहण होगा और ठीक उसी समयपर ग्रहण दिखायी भी देता है। यह हमारी प्राच्य भारतीय विद्याके लिये गौरवका विषय है। अन्यथा विज्ञानके लिये तो आज भी यह चुनौतीका विषय है कि किस समय, कौन-सा ग्रह कहाँ होगा? कौन किसको आच्छादित करेगा, उसकी ठीक गति क्या है? इत्यादि विराट् ब्रह्माण्डमें यह आज भी पाश्चात्त्य विज्ञानके लिये चुनौती है। तन्त्र-मन्त्रका प्रत्यक्षीकरण तो प्रसिद्ध ही है। मन्त्रोंसे साँप तथा बिच्छूके विषको शान्त करना तो साधारण बात है।

इसके अतिरिक्त अन्य चिकित्सा-पद्धतियोंकी तुलनामें आयुर्वेदीय चिकित्सा-शास्त्रकी विशेषता यह भी है कि '**मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता**' के सिद्धान्तानुसार बड़ी बातको संक्षिप्त—सूत्र-रूपमें ही कह देनेकी उसकी अपनी विशेषता है। जैसा कि देखें, कफ-वात-पित्त आदिकी चिकित्साके बारेमें संक्षेपमें ही कितनी सुन्दर बात कह दी गयी है—

वमनं कफनाशाय वातनाशाय मर्दनम्।
शयनं पित्तनाशाय ज्वरनाशाय लङ्घनम्॥

अर्थात् कफनाश करनेके लिये वमन (उलटी), वातरोगमें मर्दन (मालिश), पित्तरोगमें शयन तथा ज्वरमें लंघन (उपवास) करना चाहिये। आयुर्वेद शास्त्र केवल रोगीकी चिकित्सा करनेमें ही विश्वास नहीं करता, अपितु उसका तो सिद्धान्त है—'रोगी होकर चिकित्सा करनेसे अच्छा है कि बीमार ही न पड़ा जाय।' इसके लिये आयुर्वेद शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर ऐसी बातें भरी पड़ी हैं, जिसके अनुपालनसे वैद्यकी आवश्यकता भी नहीं पड़ती। जैसे—

दिनान्ते च पिबेद् दुग्धं निशान्ते च जलं पिबेत्।
भोजनान्ते पिबेत् तक्रं वैद्यस्य किं प्रयोजनम्॥

तात्पर्य यह कि यदि रात्रिको शयनसे पूर्व दुग्ध, प्रात:काल उठकर जल और भोजनके बाद तक्र (मट्ठा) पिये तो जीवनमें वैद्यकी आवश्यकता ही क्यों पड़े? इस प्रकारके सूत्रोंके आधारपर ग्राम्य जीवनमें बारहों मासके उपयोगी खाद्योंका सुन्दर संकेत इस प्रकार कर दिया गया है, जिनका सेवन अवश्य करना चाहिये—

सावन हर्रे भादौं चीत, क्वार मास गुड़ खाये मीत।
कातिक मूली अगहन तेल, पूषे करै दूधसे मेल॥
माघे घी व खीचड़ खाय, फागुन उठि कै प्रात नहाय।
चैत मासमें नीम व्यसवनि, भर बैसाखे खाये अगहनि॥
जेठ मास दुपहरिया सोवै, ताकर दुख अषाढ़में रोवै॥

बारहों मासके इन विधि-खाद्योंके अतिरिक्त निषेध-खाद्य भी हैं, जिन्हें भूलकर भी ग्रहण न करे। जैसे—

चैते गुड़ बैसाखे तेल, जेठे पथ आषाढ़े बेल।
सावन साग न भादों दही, क्वार करैला कातिक मही॥

अगहन जीरा न पूषे घना, माघे मिश्री फागुन चना।
इन बारहसे बचे जो भाई, ता घर कबहूँ वैद न जाई॥

आयुर्वेदका सिद्धान्त है कि—'**भुक्त्वा शतपदं गच्छेच्छायायां हि शनैः शनैः।**' भोजन करनेके बाद छायामें सौ पग धीरे-धीरे चलना चाहिये। शयनसे कम-से-कम २-३ घंटे पहले ही भोजन कर लेना चाहिये, अन्यथा क़ब्ज़ रहेगी। इसके अतिरिक्त दीर्घायुके लिये भी एक जगह बड़ा सुन्दर संकेत कर दिया गया है कि—

वामशायी द्विभुञ्जानो षण्मूत्री द्विपुरीषकः।
स्वल्पमैथुनकारी च शतं वर्षाणि जीवति॥

अर्थात् बायीं करवट सोनेवाला, दिनमें दो बार भोजन करनेवाला, कम-से-कम छः बार लघुशंका, दो बार शौच जानेवाला, [गृहस्थमें आवश्यक होनेपर] स्वल्प-मैथुनकारी व्यक्ति सौ वर्षतक जीता है।

आयुर्वेद शास्त्र ही नहीं अपितु अथर्ववेदीय भगवती श्रुति भी ऐसी ही कामना करती हैं—

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम्॥
(२।१३।४)

अर्थात् सभी देवता तुम्हारी आयु सौ वर्षकी करें। परंतु आगे ही एक बात अवश्य कह दी है कि—

प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टि कृणोमि त्वा।

अर्थात् संयोगसे बीमार पड़ जानेपर औषधि अवश्य ले लेनी चाहिये। इसमें प्रमाद करनेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि—'**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**' स्वस्थ शरीर ही धर्म-साधनका माध्यम है। संत कहते हैं—

पहला सुख निरोगी काया। दूजा सुख घर में हो माया।
तीजा सुख सुत दारा वश में। चौथा सुख जस खूब कमाया॥

अन्य चिकित्सा-पद्धतियोंसे भिन्न आयुर्वेद शास्त्र स्वास्थ्यका उपयोग धर्म-साधन ही स्वीकार करता है। इस बातका वह स्थान-स्थानपर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूपसे संकेत करता रहता है। इसीके अनुसार नारायण-तैलके उपयोगको बताते समय यह भी संकेत कर देता है कि वास्तवमें इन रोगोंका उपशमन नारायण (भगवान्)-के हाथमें है—

नारायणं भजत रे जठरेण युक्ता
नारायणं भजत रे पवनेन युक्ताः।
नारायणं भजत रे भवभीतियुक्ता
नारायणात् परतरं नहि किञ्चिदस्ति॥

अर्थात् हे जठराग्निसे पीड़ित मनुष्यो! तुम नारायणका भजन करो, हे वातव्याधिसे दु:खी मनुष्यो! तुम नारायणका भजन करो, हे संसाररूपी महाव्याधिसे डरे हुए मनुष्यो! तुम नारायणका ही भजन करो; क्योंकि इन कष्टोंसे उबारनेवाला नारायणसे अतिरिक्त और कोई दूसरा है ही नहीं।

यह भारतीयोंके लिये एक गौरवका विषय है कि पारेसे स्वर्ण बना देनेवाले रसायनाचार्य यहाँ तक डिण्डिम घोष कर देते हैं कि रस सिद्ध कर देनेपर इसके द्वारा दैहिक रोगकी बात ही क्या दुनिया भरके दारिद्र्य-रोगको मिटाया जा सकता है—

सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्र्यमिदं जगत्॥

इस प्रकारके असंख्यों संकेत-सूत्र हमारे शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं जिनपर व्यवस्थित रूपसे यदि सम्यक् अनुसन्धान किया जाय तो भारतवर्ष न केवल अपने प्राचीन गुरुत्वकी प्रतिष्ठाको पा जायगा, अपितु शीघ्र ही आजका भारत प्राचीन स्वर्ण-भारतमें भी बदल सकता है।

विभिन्न व्याधियोंके तारतम्यपर अनुसन्धान करनेसे एक बात सामने आती है कि जिन लोगोंका जन्म शीतकालमें होता है, उनको शीतकी बीमारियाँ ही अधिक होती हैं। जिनका जन्म ग्रीष्म-ऋतुमें होता है, उनको गर्मीकी ही बीमारियाँ अधिक होंगी तथा गर्मी भी असह्य होगी। इस प्रकारके अनुसन्धानोंमें जहाँ मानव-जातिका बहुत बड़ा कल्याण होगा, वहीं आधुनिक युगमें भी शास्त्रोंकी प्रामाणिकतापर रुचि बढ़ेगी।

चिकित्साके विषयमें वर्तमान स्थितिमें यह अवश्य चिन्तनीय बात है कि आजका तथाकथित चिकित्सक अनुसन्धान तथा स्वाध्याय-अनुगमके अभावमें रोगीपर खिलौनेकी तरह चिकित्साकी आड़में मात्र प्रयोग करता जाता है—

यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केनापि पेष्टितम्।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति॥

अर्थात् जिस-किसी जड़ीको जिस-किसी भी प्रकार पीसकर जिस-किसी भी तरह जिस-किसी भी रोगीको दे

दो। कुछ-न-कुछ तो प्रतिक्रिया होगी ही और होता वही है कि अन्तमें प्रयोग करते-करते रोगी स्वर्ग ही सिधार जाता है। ऐसे चिकित्सकोंके बारेमें ठीक ही कहा गया है—

वैद्यराज नमस्तुभ्यं क्षपिताशेषमानव।
त्वयि विन्यस्तभारोऽयं कृतान्तः सुखमेधते॥

(सुभाषितावली २३। १९)

इस प्रमादमें आजकलके कुछ चिकित्सकोंकी अर्थबुद्धि भी कम कारण नहीं है, क्योंकि '**अर्थबुद्धिर्न धर्मवित्**' अर्थात् जिसकी बुद्धि अर्थमें लगी हो वह धर्माचरण नहीं कर सकता। जो लोग मरणासन्न व्यक्तिसे भी कुछ-न-कुछ धनागमकी कामना रखते हैं, वे चिकित्सा-सेवा कैसे कर पायँगे?

इसमें कोई संदेह नहीं कि आयुर्वेद शास्त्र औषधिसे भी अधिक महत्त्व पथ्यको देता है—

विनापि भेषजं व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते।
न तु पथ्यविहीनोऽयं भेषजानां शतैरपि।

पथ्यसेवनसे व्याधि बिना औषधिके भी नष्ट हो जाती है, परंतु जो पथ्यसेवन नहीं करता, युक्ताहार-विहार नहीं रखता, वह चाहे सैकड़ों औषधि ले ले, पर उसका वह रोग दूर नहीं होता। अतः आरोग्य-लाभार्थ संयमित जीवन जीनेकी आवश्यकता है।

आरोग्य-साधन

(पं० श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र, ज्यौतिषाचार्य)

आरोग्यं भास्करादिच्छेत्.......। (मत्स्यपुराण)

अन्तश्चरति रोचना ऽस्य प्राणादपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्॥ (ऋग्वेद १०। १८९। २)

ऊपरके इस वेदमन्त्र '**अन्तश्चरति०**'- में स्पष्ट कहा है कि भगवान् सूर्यकी रोचमाना दीप्ति अर्थात् सुन्दर प्रभा शरीरके मध्यमें मुख्य प्राणरूप होकर रहती है। इससे सिद्ध है कि शरीरका स्वस्थ, नीरोग, दीर्घजीवी होना भगवान् सूर्यकी कृपापर निर्भर है; क्योंकि सूर्य-किरणोंके द्वारा ही सारे जगत्में प्राणतत्त्वका संचार होता है। प्रश्नोपनिषद्में लिखा है—

यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते।

(१। ६)

अर्थात् जब आदित्य प्रकाशमान होता है, तब वह समस्त प्राणोंको अपनी किरणोंमें रखता है।

इसमें भी एक रहस्य है। वह यह कि प्रातःकालकी सूर्य-किरणोंमें अस्वस्थताका नाश करनेकी जो अद्भुत शक्ति है, वह मध्याह्न तथा सायाह्नकी सूर्य-रश्मियोंमें नहीं है।

उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशः०।

(अथर्व० ९। ८। २२)

वेदभगवान् कहते हैं कि प्रातःकालकी आदित्य-किरणोंसे अनेक व्याधियोंका नाश होता है। सूर्य-रश्मियोंमें विष दूर करनेकी भी शक्ति है। स्वस्थ शरीरसे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**'। एतदर्थ आरोग्यके इच्छुक साधकोंको भगवान् सूर्यकी शरणमें रहना अत्यावश्यक है। सूर्यकी किरणोंमें व्याप्त प्राणोंको पोषण प्रदान करनेवाली महती शक्तिका निम्नलिखित सहज साधनसे आकर्षण करके साधक स्वस्थ, नीरोग और दीर्घजीवी होकर अन्तमें दिव्य प्रकाशको प्राप्त करके परमपदको भी प्राप्त कर सकता है। आलस्य या अविश्वासवश इस साधनको न करना एक प्रकारसे आत्मोन्नतिसे विमुख रहना है।

साधन—प्रातःकाल संध्या-वन्दनादिसे निवृत्त होकर प्रथम प्रहरमें, जबतक सूर्यकी धूप विशेष तेज न हो, तबतक एकान्तमें केवल एक वस्त्र पहनकर और मस्तक, हृदय, उदर आदि प्रायः सभी अङ्ग खुले रखकर पूर्वाभिमुख भगवान् सूर्यके प्रकाशमें खड़ा हो जाय। तदनन्तर हाथ जोड़, नेत्र बंद करके जगच्चक्षु भगवान् भास्करका ध्यान इस प्रकार करे—

पद्मासनः पद्मकरो द्विबाहुः
पद्मद्युतिः सप्ततुरङ्गवाहनः।
दिवाकरो लोकगुरुः किरीटी
मयि प्रसादं विदधातु देवः॥

यदि किसी साधकको नेत्रमान्द्यादि दोष हो तो वह

ध्यानके बाद नेत्रोपनिषद्का पाठ भी कर ले। तदनन्तर वाल्मीकिरामायणोक्त आर्ष आदित्यहृदयका पाठ तथा '**ॐ ह्रीं हंसः०**' इस बीजसमन्वित मन्त्रका कम-से-कम पाँच माला जप करके मनमें दृढ़ धारणा करे कि जो सूर्य-किरणें हमारे शरीरपर पड़ रही हैं और जो हमारे चारों ओर फैल रही हैं, उन सबमें रहनेवाली आरोग्यदा प्राणशक्ति मेरे शरीरके रोम-रोममें प्रवेश कर रही है। नित्य नियमपूर्वक दस मिनटसे बीस मिनटतक इस प्रकार करे। साथ ही घंटा-रव-रणत्-स्वरसे ॐकारका उच्चारण ब्रह्मरन्ध्रतक पहुँचाना चाहिये। ऐसा करनेसे अनोखा आनन्द तथा दिव्य स्फूर्तियुक्त तेज मिलेगा। यदि किसी श्रद्धालु साधकको कष्टसाध्य अथवा असाध्य ऊरुक्षत, राजयक्ष्मा अथवा कुष्ठादि रोग अत्यन्त कष्ट दे रहे हों तो वह उपर्युक्त साधनके साथ-साथ निम्नलिखित काम्य रविव्रत भी करे। मेरा विश्वास है कि ऐसा करनेपर निश्चय ही इच्छानुसार लाभ होगा। यह व्रत गुरु-शुक्रास्तादि दोषसे रहित मार्गशीर्ष शुक्लपक्षसे प्रारम्भ करना चाहिये।

व्रती साधकको चाहिये कि रविवारको सूर्योदयसे ५ घड़ी (२ घंटे) पूर्व उठकर शौचशुद्धिके बाद ताजे या भिगोये हुए अपामार्ग (ओंगा-पुठकंडा)-की दातौनसे मुखशुद्धि करे। तदनन्तर स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर उपर्युक्त साधन करके भगवान् सूर्यके सम्मुख (चान्द्रमानसे) मार्गशीर्ष हो तो पहले दिनके तोड़े हुए और भगवान्को समर्पण किये हुए केवल तुलसीजीके तीन पत्र, पौषमें ३ पल गोघृत, माघमें ३ मुट्ठी तिल, फाल्गुनमें ३ पल गौका दही, चैत्रमें ३ पल गौका दूध, वैशाखमें सवत्सा गौका गोबर बदरीफल प्रमाणमें (बेर-जितना), ज्येष्ठमें ३ अञ्जलि गङ्गाजल (अभावमें भगवान्का चरणामृत), आषाढ़में ३ दाना काली मिर्च, श्रावणमें ३ पल जौका सत्तू, भाद्रपदमें सवत्सा गौका मूत्र ३ चुल्लू, आश्विनमें चीनी ३ पल तथा कार्तिकमें हविष्य ३ पल* भक्षण करे।

ऊपर जो द्वादश मासोंके रविवारोंकी भक्ष्य वस्तुएँ लिखी हैं, उनके अतिरिक्त अन्य वस्तु उस दिन मुखमें न डाले। भक्ष्य पदार्थके भक्षण करनेके अनन्तर आचमन करके मुखशुद्धि अवश्य करे। जहाँ केवल जलमात्रका ही वचन है, वहाँ आचमनकी आवश्यकता नहीं है। व्रती साधक उस दिन मौनधारणपूर्वक मनमें पहले बताये गये बीजमन्त्रका स्मरण करता हुआ एकान्तसेवन करे और प्रातः, मध्याह्न तथा सायंके समय रोली, पुष्प और चावलोंसे युक्त जलका अर्घ्य भी अवश्य दे। रात्रिको पवित्रतापूर्वक जमीनपर या काठके तख्ते अथवा चौकीपर पूर्वकी ओर सिर करके सोये।

साधको! इस रविव्रतसे स्वास्थ्यमें जो वर्णनातीत लाभ होते देखा गया है, वह किसी भी मानवीय औषधसे शतांशमें भी नहीं होता—ऐसा मेरा अनुभव है। यदि कोई साधक इस व्रतको बारह सालतक विश्वासपूर्वक करे तो वह पूर्णकाम होकर ब्रह्मरूप हो जाता है, इसमें संदेह नहीं। यहाँ तो केवल दृढ़ श्रद्धा-भक्तिकी आवश्यकता है। कहाँतक लिखा जाय, कुछ समयतक विधिवत् इस साधनके करनेसे भगवान् भास्करकी कृपाका अद्भुत फल अपने-आप ही प्रत्यक्ष हो जायगा।

स्मरण रहे कि सूर्यके सामने मल-मूत्रका त्याग करना सभीके लिये, खास करके सूर्योपासकके लिये तो सर्वथा निषिद्ध है। रविवारको तैल, स्त्री-संसर्ग तथा नमकीन पदार्थका त्याग करना साधारण रविव्रत कहलाता है।

सर्वरोगोपशमनं सर्वोपद्रवनाशनम्।
शान्तिदं सर्वरिष्टानां हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

हरिनाम संकीर्तन सभी रोगोंका उपशमन करनेवाला, सभी उपद्रवोंका नाश करनेवाला और समस्त अरिष्टोंकी शान्ति करनेवाला है।

---

* एक पल ३ तोले ४ माशेका होता है।

वास्तुशास्त्र और आरोग्य

(श्रीराजेन्द्रकुमारजी धवन)

'वास्तु' शब्दका अर्थ है—निवास करना। जिस भूमिपर मनुष्य निवास करते हैं, उसे 'वास्तु' कहा जाता है। वास्तुशास्त्रमें गृह-निर्माण-सम्बन्धी विविध नियमोंका प्रतिपादन किया गया है। उनका पालन करनेसे मनुष्यको अन्य कई प्रकारके लाभोंके साथ-साथ आरोग्यलाभ भी होता है। वास्तुशास्त्रका विशेषज्ञ किसी मकानको देखकर यह बता सकता है कि इसमें निवास करनेवालेको क्या-क्या रोग हो सकते हैं। इस लेखमें संक्षिप्त रूपसे ऐसी बातोंका उल्लेख करनेकी चेष्टा की जाती है, जिनसे पाठकोंको इस बातका दिग्दर्शन हो जाय कि गृह-निर्माणमें किन दोषोंके कारण रोगोंकी उत्पत्ति होना सम्भव है।

१. भूमि-परीक्षा—भूमिके मध्यमें एक हाथ लंबा, एक हाथ चौड़ा और एक हाथ गहरा गड्ढा खोदे। खोदनेके बाद निकाली हुई सारी मिट्टी पुनः उसी गड्ढेमें भर दे। यदि गड्ढा भरनेसे मिट्टी शेष बच जाय तो वह उत्तम भूमि है। यदि मिट्टी गड्ढेके बराबर निकलती है तो वह मध्यम भूमि है और यदि गड्ढेसे कम निकलती है तो वह अधम भूमि है।

दूसरी विधि—उपर्युक्त प्रकारसे गड्ढा खोदकर उसमें पानी भर दे और उत्तर दिशाकी ओर सौ कदम चले, फिर लौटकर देखे। यदि गड्ढेमें पानी उतना ही रहे तो वह उत्तम भूमि है। यदि पानी कम (आधा) रहे तो वह मध्यम भूमि है और यदि बहुत कम रह जाय तो वह अधम भूमि है। अधम भूमिमें निवास करनेसे स्वास्थ्य और सुखकी हानि होती है।

ऊसर, चूहोंके बिलवाली, बाँबीवाली, फटी हुई, ऊबड़-खाबड़, गड्ढोंवाली और टीलोंवाली भूमिका त्याग कर देना चाहिये।

जिस भूमिमें गड्ढा खोदनेपर कोयला, भस्म, हड्डी, भूसा आदि निकले, उस भूमिपर मकान बनाकर रहनेसे रोग होते हैं तथा आयुका ह्रास होता है।

२. भूमिकी सतह—पूर्व, उत्तर और ईशान दिशामें नीची भूमि सब दृष्टियोंसे लाभप्रद होती है। आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य और मध्यमें नीची भूमि रोगोंको उत्पन्न करनेवाली होती है।

दक्षिण तथा आग्नेयके मध्य नीची और उत्तर एवं वायव्यके मध्य ऊँची भूमिका नाम 'रोगकर वास्तु' है, जो रोग उत्पन्न करती है।

३. गृहारम्भ—वैशाख, श्रावण, कार्तिक, मार्गशीर्ष और फाल्गुनमासमें करना चाहिये। इससे आरोग्य तथा धन-धान्यकी प्राप्ति होती है।

नींव खोदते समय यदि भूमिके भीतरसे पत्थर या ईंट निकले तो आयुकी वृद्धि होती है। यदि राख, कोयला, भूसी, हड्डी, कपास, लोहा आदि निकले तो रोग तथा दुःखकी प्राप्ति होती है।

४. वास्तुपुरुषके मर्म-स्थान—सिर, मुख, हृदय, दोनों स्तन और लिङ्ग—ये वास्तुपुरुषके मर्म-स्थान हैं। वास्तुपुरुषका सिर 'शिखी' में, मुख 'आप' में, हृदय 'ब्रह्मा' में, दोनों स्तन 'पृथ्वीधर' तथा 'अर्यमा' में और लिङ्ग 'इन्द्र' तथा 'जय' में है (देखें—वास्तुपुरुषका चार्ट)। वास्तुपुरुषके जिस मर्म-स्थानमें कील, खम्भा आदि गाड़ा जायगा, गृहस्वामीके उसी अङ्गमें पीडा या रोग उत्पन्न हो जायगा।

वास्तुपुरुषका हृदय (मध्यका ब्रह्म-स्थान) अतिमर्मस्थान है। इस जगह किसी दीवार, खम्भा आदिका निर्माण नहीं करना चाहिये। इस जगह जूठे बर्तन, अपवित्र पदार्थ भी नहीं रखने चाहिये। ऐसा करनेपर अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं।

५. गृहका आकार—चौकोर तथा आयताकार मकान उत्तम होता है। आयताकार मकानमें चौड़ाईकी दुगुनीसे अधिक लम्बाई नहीं होनी चाहिये। कछुएके आकारवाला घर पीडादायक है। कुम्भके आकारवाला घर कुष्ठरोग-प्रदायक है। तीन तथा छः कोनवाला घर आयुका क्षयकारक है। पाँच कोनवाला घर संतानको कष्ट देनेवाला है। आठ कोनवाला घर रोग उत्पन्न करता है।

घरको किसी एक दिशामें आगे नहीं बढ़ाना चाहिये। यदि बढ़ाना ही हो तो सभी दिशाओंमें समानरूपसे बढ़ाना

चाहिये। यदि घर वायव्य दिशामें आगे बढ़ाया जाय तो वात-व्याधि होती है। यदि वह दक्षिण दिशामें बढ़ाया जाय तो मृत्यु-भय होता है। उत्तर दिशामें बढ़ानेपर रोगोंकी वृद्धि होती है।

वास्तुचक्र

ईशान　　**पूर्व**　　**आग्नेय**

शिखी सिर	**पर्जन्य** नेत्र	**जयन्त** कान	**इन्द्र** कन्धा	**सूर्य** भुजा	**सत्य** भुजा	**भृश** भुजा	**अन्तरिक्ष** भुजा	**अनिल** भुजा
दिति नेत्र	**आप** मुख						**सावित्र** हाथ	**पूषा** मणिबन्ध
अदिति कान		**आपवत्स** छाती		**अर्यमा** स्तन		**सविता** हाथ		**वितथ** बगल
भुजग कन्धा								**बृहत्क्षत** बगल
सोम भुजा		**पृथ्वीधर** स्तन		**ब्रह्मा** हृदय		**विवस्वान्** पेट		**यम** ऊरु
भल्लाट भुजा								**गन्धर्व** घुटना
मुख्य भुजा		**राजयक्ष्मा** हाथ		**मित्र** पेट		**इन्द्र** लिङ्ग		**भृंगराज** जंघा
नाग भुजा	**रुद्र** हाथ						**जय** लिङ्ग	**मृग** नितम्ब
रोग भुजा	**पापयक्ष्मा** मणिबन्ध	**शोष** बगल	**असुर** बगल	**वरुण** ऊरु	**पुष्पदन्त** घुटना	**सुग्रीव** जंघा	**दौवारिक** नितम्ब	**पिता** पैर

उत्तर (बायाँ)　　**दक्षिण** (दायाँ)

वायव्य　　**पश्चिम**　　**नैर्ऋत्य**

६. गृहनिर्माणकी सामग्री—ईंट, लोहा, पत्थर, मिट्टी और लकड़ी—ये नये मकानमें नये ही लगाने चाहिये। एक मकानमें उपयोग की गयी लकड़ी दूसरे मकानमें लगानेसे गृहस्वामीका नाश होता है।

मन्दिर, राजमहल और मठमें पत्थर लगाना शुभ है, पर घरमें पत्थर लगाना शुभ नहीं है।

पीपल, कदम्ब, नीम, बहेड़ा, आम, पाकर, गूलर, रीठा, वट, इमली, बबूल और सेमलके वृक्षकी लकड़ी घरके काममें नहीं लेनी चाहिये।

७. गृहके समीपस्थ वृक्ष—आग्नेय दिशामें वट, पीपल, सेमल, पाकर तथा गूलरका वृक्ष होनेसे पीडा और मृत्यु होती है। दक्षिणमें पाकर-वृक्ष रोग उत्पन्न करता है। उत्तरमें गूलर होनेसे नेत्ररोग होता है। बेर, केला, अनार, पीपल और नीबू—ये जिस घरमें होते हैं, उस घरकी वृद्धि नहीं होती।

घरके पास काँटेवाले, दूधवाले और फलवाले वृक्ष हानिप्रद हैं।

पाकर, गूलर, आम, नीम, बहेड़ा, पीपल, कपित्थ, बेर, निर्गुण्डी, इमली, कदम्ब, बेल तथा खजूर—ये सभी वृक्ष घरके समीप अशुभ हैं।

८. गृहके समीपस्थ अशुभ वस्तुएँ—देवमन्दिर, धूर्तका घर, सचिवका घर अथवा चौराहेके समीप घर बनानेसे

दु:ख, शोक तथा भय बना रहता है।

९. मुख्य द्वार—जिस दिशामें द्वार बनाना हो, उस ओर मकानकी लम्बाईको बराबर नौ भागोंमें बाँटकर पाँच भाग दायें और तीन भाग बायें छोड़कर शेष (बायीं ओरसे चौथे) भागमें द्वार बनाना चाहिये। दायाँ और बायाँ भाग उसको माने, जो घरसे बाहर निकलते समय हो।

पूर्व अथवा उत्तरमें स्थित द्वार सुख-समृद्धि देनेवाला होता है। दक्षिणमें स्थित द्वार विशेषरूपसे स्त्रियोंके लिये दु:खदायी होता है।

द्वारका अपने-आप खुलना या बंद होना अशुभ है। द्वारके अपने-आप खुलनेसे उन्माद-रोग होता है और अपने-आप बंद होनेसे दु:ख होता है।

१०. द्वार-वेध—मुख्य द्वारके सामने मार्ग या वृक्ष होनेसे गृहस्वामीको अनेक रोग होते हैं। कुआँ होनेसे मृगी तथा अतिसाररोग होता है। खम्भा एवं चबूतरा होनेसे मृत्यु होती है। बावड़ी होनेसे अतिसार एवं संनिपातरोग होता है। कुम्हारका चक्र होनेसे हृदयरोग होता है। शिला होनेसे पथरीरोग होता है। भस्म होनेसे बवासीररोग होता है।

यदि घरकी ऊँचाईसे दुगुनी जमीन छोड़कर वेध-वस्तु हो तो उसका दोष नहीं लगता।

११. गृहमें जल-स्थान—कुआँ या भूमिगत टंकी पूर्व, पश्चिम, उत्तर अथवा ईशान दिशामें होनी चाहिये। जलाशय या ऊर्ध्व टंकी उत्तर या ईशान दिशामें होनी चाहिये।

यदि घरके दक्षिण दिशामें कुआँ हो तो अद्भुत रोग होता है। नैर्ऋत्य दिशामें कुआँ होनेसे आयुका क्षय होता है।

१२. घरमें कमरोंकी स्थिति—यदि एक कमरा पश्चिममें और एक कमरा उत्तरमें हो तो वह गृहस्वामीके लिये मृत्युदायक होता है। इसी तरह पूर्व और उत्तर दिशामें कमरा हो तो आयुका ह्रास होता है। पूर्व और दक्षिण दिशामें कमरा हो तो वातरोग होता है। यदि पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशामें कमरा हो, पर दक्षिणमें कमरा न हो तो सब प्रकारके रोग होते हैं।

१३. गृहके आन्तरिक कक्ष—स्नानघर 'पूर्व'में, रसोई 'आग्नेय'में, शयनकक्ष 'दक्षिण'में, शस्त्रागार, सूतिकागृह, गृह-सामग्री और बड़े भाई या पिताका कक्ष 'नैर्ऋत्य'में, शौचालय 'नैर्ऋत्य', 'वायव्य' या 'दक्षिण-नैर्ऋत्य'में, भोजन करनेका स्थान 'पश्चिम'में, अन्न-भण्डार तथा पशु-गृह 'वायव्य'में, पूजागृह 'उत्तर' या 'ईशान'में, जल रखनेका स्थान 'उत्तर' या 'ईशान'में, धनका संग्रह 'उत्तर'में और नृत्यशाला 'पूर्व, पश्चिम, वायव्य या आग्नेय' में होनी चाहिये। घरका भारी सामान नैर्ऋत्य दिशामें रखना चाहिये।

१४. जानने योग्य आवश्यक बातें—ईशान दिशामें पति-पत्नी शयन करें तो रोग होना अवश्यम्भावी है।

सदा पूर्व या दक्षिणकी तरफ सिर करके सोना चाहिये। उत्तर या पश्चिमकी तरफ सिर करके सोनेसे शरीरमें रोग होते हैं तथा आयु क्षीण होती है।

दिनमें उत्तरकी ओर तथा रात्रिमें दक्षिणकी ओर मुख करके मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये। दिनमें पूर्वकी ओर तथा रात्रिमें पश्चिमकी ओर मुख करके मल-मूत्रका त्याग करनेसे आधासीसीरोग होता है।

दिनके दूसरे और तीसरे पहर यदि किसी वृक्ष, मन्दिर आदिकी छाया मकानपर पड़े तो वह रोग उत्पन्न करती है।

एक दीवारसे मिले हुए दो मकान यमराजके समान गृहस्वामीका नाश करनेवाले होते हैं।

किसी मार्ग या गलीका अन्तिम मकान कष्टदायी होता है।

घरकी सीढ़ियाँ (पग), खम्भे, खिड़कियाँ, दरवाजे आदिकी 'इन्द्र-काल-राजा'—इस क्रमसे गणना करे। यदि अन्तमें 'काल' आये तो अशुभ समझना चाहिये।

दीपक (बल्ब आदि)-का मुख पूर्व अथवा उत्तरकी ओर रहना चाहिये।

दन्तधावन (दातुन), भोजन और क्षौरकर्म सदा पूर्व अथवा उत्तरकी ओर मुख करके ही करने चाहिये।

जीवका गर्भवास और देहरचना

(वैद्य पं० श्रीनन्दकिशोरजी गौतम 'निर्मल', एम्०ए०, साहित्यायुर्वेदाचार्य, साहित्यायुर्वेदरत्न)

अखिल विश्वमें हमारा भारत ही एक ऐसा देश है जो पुनर्जन्मके सिद्धान्तमें पूर्ण विश्वास ही नहीं रखता, अपितु समय-समयपर त्रिकालदर्शी योगियोंद्वारा इस प्रकारके उदाहरण प्रत्यक्षरूपसे प्रस्तुत करनेमें समर्थ रहा है। अणिमा आदि अष्टसिद्धियोंको प्राप्त महापुरुष तो परकाया-प्रवेशतक करके ऐसा दिखाते आये हैं।

इससे यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि आत्मा अजर और अमर है तथा वह अपने प्रारब्ध (पूर्वसंचित कर्मफल)-के अनुसार सम्बन्धित मानव, पशु, कीट आदि योनियोंमें जन्म लेता है। श्रीमद्भागवत तथा गरुडपुराण (सारोद्धार) आदिमें इस बातका स्पष्ट प्रमाण मिलता है—

जीवका गर्भप्रवेश

'जीव प्रारब्ध-कर्मवश देह-प्राप्तिके लिये पुरुषके वीर्य-कणके आश्रित होकर स्त्रीके उदरमें प्रविष्ट[1] होता है।'

आयुर्वेदके विभिन्न ग्रन्थोंके आधारपर जीवके पूर्वकर्मानुसार गर्भप्रवेशका वर्णन इस प्रकार उपलब्ध होता है—'यह आत्मा जैसे शुभाशुभ कर्म पूर्वजन्ममें संचित करता है, उन्हींके आधारपर इसका पुनर्जन्म होता है और पूर्वदेहमें संस्कारित गुणोंका प्रादुर्भाव[2] इस जन्ममें होता है।'

जैसा कि योगिराज श्रीकृष्णने गीताके छठे अध्यायमें इस बातकी पुष्टि—'**तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्**'— इस वाक्यसे की है। इसी कारण हम संसारमें किसीको कुरूप, किसीको सुन्दर, किसीको लँगड़ा, किसीको लूला, किसीको मूक और किसीको कुबड़ा तो किसीको अंधा और किसीको काना देखते हैं। इसी प्रकार कोई जीव किसी महापुरुषके घर जन्म लेता है तो कोई किसी अधमके घर। कोई ऐश्वर्यशालीके घरमें जन्म लेता है तो कोई अकिंचन कुटीरमें पलता है। यह सम्पूर्ण विविधता पूर्वकृत कर्मके अनुसार होती है, जिसे कि हम 'दैव' भी कहते हैं—

'**पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।**'

चरक-संहिताके शारीरस्थानके चतुर्थ अध्यायमें भी इस बातकी पुष्टि इस प्रकार है—'सबसे पूर्व मनरूपी कारणके साथ संयुक्त हुआ आत्मा धातुगुणके ग्रहण करनेके लिये प्रवृत्त होता है अर्थात् अपने कर्मके अनुसार सत्त्व, रज तथा तम—इन गुणोंके ग्रहणके लिये अथवा महाभूतोंके ग्रहणके लिये प्रवृत्त होता है। आत्माका जैसा कर्म होता है और जैसा मन उसके साथ है, वैसा ही शरीर बनता है, वैसे ही पृथिवी आदि भूत होते हैं तथा अपने कर्मद्वारा प्रेरित किये हुए मनरूपी साधनके साथ स्थूल शरीरको उत्पन्न करनेके लिये उपादानभूत भूतोंको ग्रहण करता है। वह आत्मा हेतु, कारण, निमित्त, कर्ता, मन्ता, बोधयिता, बोद्धा, द्रष्टा, धाता, ब्रह्मा, विश्वकर्मा, विश्वरूप, पुरुषप्रभव, अव्यय, नित्यगुणी, भूतोंका ग्रहण करनेवाला प्रधान, अव्यक्त, जीवज्ञ, प्रकुल, चेतनावान्, प्रभु, भूतात्मा, इन्द्रियात्मा और अन्तरात्मा कहलाता[3] है।'

'वह जीव गर्भाशयमें अनुप्रविष्ट होकर शुक्र और शोणितसे मिलकर अपनेसे अपनेको गर्भरूपमें उत्पन्न करता है। अतएव गर्भमें इसकी आत्मसंज्ञा[4] होती है।'

'क्षेत्रज्ञ, वेदयिता, स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, पुरुषस्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्ता इत्यादि पर्यायवाची नामोंसे, जो ऋषियोंद्वारा पुकारा जाता है, वह क्षेत्रज्ञ (स्वयं अक्षय, अचिन्त्य और अव्यय होते हुए भी) दैवके संगसे सूक्ष्म भूत-तत्त्व, सत्त्व, रज, तम, दैव, आसुर या अन्य भावसे युक्त वायुसे प्रेरित हुआ गर्भाशयमें प्रविष्ट होकर

१-कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये। स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥ (श्रीमद्भा० ३।३१।१; ग०पु०सा० ६।५)

२-कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे। अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान्॥ (सुश्रुत० शा० २।५५)

३-तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय पुनः प्रवर्तते। स हि हेतुः कारणं निमित्तमक्षरं कर्ता मन्ता बोधता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः प्रभवोऽव्ययो नित्यो गुणी ग्रहणं प्राधानमव्यक्तं जीवो ज्ञः प्रकुलश्चेतनावान् प्रभुश्च भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा चेति। (च०शा० ४।४)

४-स (आत्मा) गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मनात्मानम्, आत्मसंज्ञा हि गर्भे। (च०शा० ३।१२)

(शुक्र-आर्तवके संयोग होते ही) तत्काल उस संयोगमें अवस्थान[१] करता है।'

जीवका गर्भ-वृद्धिक्रम

गर्भमें प्रविष्ट होनेके बाद यह आत्मा पाञ्चभौतिक शरीरको धारण करने लगता है। इस शरीरकी वृद्धि गर्भमें क्रमशः नौ मासतक होनेका वर्णन विभिन्न ग्रन्थोंमें इस प्रकार मिलता है—

'डिम्बाणुके साथ मिले हुए शुक्राणुकी वृद्धि एक रात्रिमें कलल, पाँच रात्रिमें बुद्‌बुद, दस रात्रिमें कर्कन्धू (बेर)-के समान मांस-पिण्डके रूपमें होती है एवं अन्य मानवेतर योनियोंमें अंडेके रूपमें होती है। उसके बाद दो माहमें सिर और बाहु आदि अङ्गका विग्रह (विभाग) होता है। तीन माहमें नख, रोम, हड्डी, चर्म और लिङ्ग आदि छिद्र होते हैं। चार महीनेमें सातों धातु बनते हैं, पाँच महीनेमें क्षुधा तथा तृषाकी उत्पत्ति होती है एवं छः महीनेमें जरायु (झिल्ली)-में लिपटा हुआ दक्षिणकुक्षिमें भ्रमण करता है। सातवें महीनेमें सचेत होकर प्रसूतिवायुसे कम्पित होता हुआ विष्ठासे उत्पन्न सहोदर कृमिके समान चलता[२] रहता है।'

आयुर्वेदके प्रधान ग्रन्थ सुश्रुतसंहिताके आधारपर गर्भ-वृद्धिक्रम इस प्रकारसे उपलब्ध होता है—

'शुक्र और शोणितके संयोगसे प्रथम मासमें गर्भ कलल अर्थात् बुद्‌बुदाकार होता है। द्वितीय मासमें शीत (श्लेष्मा), उष्म (पित्त) और अनिल (वात)—इनसे पञ्चमहाभूतोंका समूह गाढ़ा बनता है। यदि वह समूह पिण्डाकृति हो तो पुत्र और पेशी (दीर्घाकृति) हो तो कन्या तथा अर्बुद गोला (Tumour)-के परिमाणका हो तो नपुंसक होता है। तृतीय मासमें दो हाथ, दो पैर और सिर ऐसे पाँच अवयवोंके पिण्ड होते हैं एवं गला, छाती, पीठ तथा पेट—ये अङ्ग और ठोड़ी, नासिका, कान, अँगुली, एड़ी इत्यादि प्रत्यङ्गोंका विभाग अस्पष्टतया ज्ञात होता है। चतुर्थ मासमें सब अङ्ग-प्रत्यङ्गके विभाग खूब स्पष्ट हो जाते हैं तथा गर्भका हृदय स्पष्ट होनेसे चेतना-धातु व्यक्त होता है; क्योंकि हृदय चेतना-धातुका स्थान (आश्रय) है। इसलिये इन्द्रियार्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी अभिलाषा चतुर्थ मासमें होती है।'

'पञ्चम मासमें मन अधिक प्रबुद्ध एवं सचेत होता है। षष्ठ मासमें बुद्धि प्राप्त होती है। सप्तममें सब अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी अभिव्यक्ति भलीभाँति होती है अर्थात् सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग—ग्रीवा-मूर्धा आदि स्पष्ट हो जाते हैं। अष्टम मासमें ओज चञ्चल रहता है। इस मासमें बालक पैदा होनेपर नैर्ऋत भागके कारण तथा ओजधातु क्षीण रहनेसे जीता नहीं। नवम, दशम, एकादश और द्वादश मासमें उत्पन्न बालक जीवित रहता है। इसके बाद यदि प्रसव न हो तो वह विकारी गर्भ समझा जाता है[३]।

जीवका गर्भवास

गरुडपुराण (सारोद्धार) तथा श्रीमद्भागवतमहापुराणमें

१-क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते।

(सुश्रुत, शा० ३। ३)

२-कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्‌बुदम्। दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम्॥
मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः। नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः॥
चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः। षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे॥
आरभ्य सप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि वेपितः। नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः॥

(श्रीमद्भा० ३। ३१। २—४, १०; ग० पु० सा० ६। ६—८, १५)

३-तत्र प्रथमे मासि कललं जायते; द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां संघातो घनः सञ्जायते; यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकं चेदर्बुदमिति। तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति, चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति, गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति; कस्मात्? तत्स्थानत्वात्। तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति।

पञ्चमे मनः प्रबुद्धतरं भवति, षष्ठे बुद्धिः, सप्तमे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरः, अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वा-न्नैर्ऋतभागत्वाच्च, × × × नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिञ्जायते अतोऽन्यथा विकारी भवति।

(सुश्रुत० शा० ३। १८, ३०)

जीवके गर्भवासका वर्णन इस प्रकार उपलब्ध है—

'माताद्वारा भुक्त अन्न-पानादिसे बढ़ा है रस, रक्त आदि धातु जिसका, ऐसा प्राणी असम्मत अर्थात् जिससे दुर्गन्ध आती है, जिसमें जीवकी सम्भूति है ऐसे विष्ठा और मूत्रके गर्तमें सोता है। सुकुमार होनेके कारण वह गर्तमें होनेवाले भूखे कीड़ोंके काटे जानेपर प्रतिक्षण उस क्लेशसे पीडित हो मूर्च्छित हो जाता है। मातासे खाये हुए कड़ुए, तीक्ष्ण, नमकीन (चटपटे), रूखे और खट्टे आदि उल्बण पदार्थसे छुए जानेपर जीवके अङ्गोंमें वेदना होती है तथा जरायु और आँतके बन्धनमें पड़कर पीठ और ग्रीवाके लचकनेसे काँखमें सिर करके पिंजरेके पक्षीके समान वह अङ्गोंके चलानेमें असमर्थ हो जाता है। वहाँ दैवयोगसे सौ जन्मकी बात स्मरणकर दीर्घ श्वास लेता है। अतः कुछ भी उसे सुख नहीं मिलता। संतप्त और भयभीत जीव धातुरूप सात बन्धनोंमें पड़कर तथा हाथ जोड़कर, जिसने इस उदरमें डाला है, उसकी दीन वचनोंसे स्तुति करता[१] है।'

'हे लक्ष्मीपते! हे जगत्के आधार, अशुभके नाशकर्ता, शरणागत-वत्सल श्रीविष्णु! मैं आपकी शरण हूँ। आपकी मायासे मोहित होकर देहमें 'मैं' तथा पुत्र-स्त्रीमें 'मेरा' अभिमान करके हे नाथ! मैं संसारको प्राप्त हुआ हूँ। मैंने कुटुम्बके लिये शुभ-अशुभ कर्म किया है, परंतु उस कर्मसे मैं अकेला ही दग्ध हो रहा हूँ और ये कुटुम्बी फलके भागी हुए। यदि इस योनिसे मेरा छुटकारा हुआ तो मैं आपके चरणोंका स्मरण करूँगा, जिससे संसारसे मुक्त हो जाऊँ। विष्ठा और मूत्रके कूपमें गिरा हुआ मैं बाहर निकलनेकी इच्छा करता हुआ जठराग्निसे दग्ध हो रहा हूँ, मुझे आप कब बाहर निकालेंगे[२]?'

जीवके इस करुण विलापको सुनकर सर्वान्तर्यामी प्रभु उसपर अपनी अहैतुकी कृपा करके उसे उस नारकीय स्थानसे बाहर निकाल देते हैं और ज्यों ही वह कर्म भोगकर बाहर आता है, त्यों ही वैष्णवी माया उस जीवको मोहित कर लेती है तथा वह मायासे लिप्त होकर परवश हुआ कुछ नहीं बोल पाता और संसारचक्रमें पुनः घूमने लगता है; किंतु पूर्वजन्मके प्रबल संस्कारसे यदि वह भगवद्भक्तिके सुमार्गपर लग जाता है तो इस जन्ममें अपना उद्धार कर सकता है। अतः माता-पिताको चाहिये कि अपने बालकोंमें प्रारम्भसे ही इस प्रकारके जीवनोद्धारक संस्कार डालें, जिससे जीवका सर्वथा कल्याण हो सके।

उपर्युक्त गर्भवासका वर्णन आयुर्वेद-ग्रन्थोंमें प्रकारान्तरसे इस प्रकार उपलब्ध होता है—

'गर्भकी स्वकीय प्यास और भूख नहीं होती। उसका जीवन पराधीन होता है अर्थात् माताके अधीन होता है। वह सत् और असत् (सूक्ष्म) अङ्गावयववाला गर्भ मातापर आश्रित रहता हुआ उपस्नेह (रिसकर आये रस) और उपस्वेद (उष्मा)-से जीवित रहता है। जब अङ्गके अवयव व्यक्त हो जाते हैं—स्थूलरूपमें आ जाते हैं, तब कुछ तो लोमकूपके मार्गसे उपस्नेह होता है और कुछ नाभिनालके मार्गसे। गर्भकी नाभिपर नाडी लगी रहती है। नाडीके साथ अपरा जुड़ी रहती है और अपराका सम्बन्ध माताके हृदयके साथ रहता है। गर्भको माताका हृदय स्पन्दमान (बहती हुई) सिराओंद्वारा उस अपराको रस या रक्तसे भरपूर किये रहता है। वह रस गर्भको वर्ण एवं बल देनेवाला होता है। सब

१- मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसम्मते । शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे॥
कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात् प्रतिक्षणम्। मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः॥
कटुतीक्ष्णोष्णलवणरूक्षाम्लादिभिरुल्बणैः । मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः॥
उल्बेन संवृतस्तस्मिन्नन्त्रैश्च बहिरावृतः । आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः॥
अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे।
तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात् कर्म जन्मशतोद्भवम्। स्मरन् दीर्घमनुच्छ्वासं शर्म किं नाम विन्दते॥
नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः । स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः॥
(गरुडपुराण सारोद्धार ६। ९—१४; श्रीमद्भा० ३। ३१। ५—९, ११)

२- श्रीपतिं जगदाधारमशुभक्षयकारकम्। व्रजामि शरणं विष्णुं शरणागतवत्सलम्॥
त्वन्मायामोहितो देहे तथा पुत्रकलत्रके। अहंममाभिमानेन गतोऽहं नाथ संसृतिम्॥
कृतं परिजनस्यार्थे मया कर्म शुभाशुभम्। एकाकी तेन दग्धोऽहं गतास्ते फलभागिनः॥
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्स्मरिष्ये पदं तव। तमुपायं करिष्यामि येन मुक्तिं व्रजाम्यहम्॥
विण्मूत्रकूपे पतितो दग्धोऽहं जठराग्निना। इच्छन्नितो विवसितुं कदा निर्यास्यते बहिः॥
(गरुडपुराण सारोद्धार ६। १६—२०)

रसोंसे युक्त आहाररस गर्भिणी स्त्रीमें तीन भागोंमें बँट जाता है। एक भाग उसके अपने शरीरकी पुष्टिके लिये और दूसरा भाग क्षीरोत्पत्तिके लिये तथा तीसरा भाग गर्भवृद्धिके लिये होता है। इस प्रकार वह गर्भ इस आहारसे परिपालित होकर गर्भाशयमें जीवित रहता है।' (चरक० शारीरस्थानम् ६।१५)

'माताके निःश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ तथा स्वप्नसे उत्पन्न हुए निःश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ और स्वप्नोंको गर्भ प्राप्त करता है; अर्थात् जबतक बालक माताके गर्भमें रहता है, वह माताके शरीरके अङ्गके समान होता है और माताके प्रत्येक भले-बुरे कर्मका परिणाम जैसे उसके शरीरपर होता है, वैसे ही गर्भके ऊपर भी होता है। माता जब श्वासोच्छ्वास करती है, तब उसके रक्तकी शुद्धि होती है; साथ-ही-साथ गर्भके रक्तकी भी शुद्धि होती है। माता जब सोती है तो उसके साथ-ही-साथ गर्भको आराम मिलता है। माता जब भोजन करती है, तब उसके शरीरके पोषणके साथ गर्भका भी पोषण होता है। माता जब संक्षुब्ध होती है, तब उसके शरीरपर जो परिणाम होता है, वही परिणाम गर्भपर भी होता है। संक्षेपमें माताके प्रत्येक कर्मके साथ-साथ गर्भ भी वही कर्म करता जान पड़ता है। वास्तवमें न गर्भ श्वास लेता है, न सोता है, न भोजन करता है, न क्रुद्ध होता है और न मल-मूत्रका त्याग ही स्वतन्त्रवृत्तिसे करता है।' (सु०शा० २।५२)

गर्भ पूर्णरूपसे मातृवृत्तिपर आश्रित रहता है। अतः माताको यह आदेश दिया गया है कि वह अच्छे प्रकारका भोजन (लवणीय, कड़ुए, तीक्ष्ण, खट्टे, उल्बण आदि पदार्थोंसे रहित) करे। शारीरिक परिश्रम अधिक न करे। मनको कष्ट देनेवाली बातोंका चिन्तन न करके आराम करे। मलिन वस्त्र धारण न करे। ग्राम्य धर्म (मैथुन), गाड़ीकी सवारी आदि त्याग दे। शुद्ध सात्त्विक विचार करे, सात्त्विक वस्तु देखे, सात्त्विक बातें—कथाएँ सुने; तामसका सर्वथा त्याग कर दे। यह सब आदेश इसीलिये दिया गया है कि गर्भस्थ शिशुको किसी प्रकारकी पीडा न हो और वह शुद्ध-जीवन बने।

'गर्भकी नाभिमें लगी नाडीके द्वारा माताके आहाररससे गर्भका पोषण 'केदारकुल्या' न्यायसे होता है। जिस प्रकार सिंचाई करते समय कृषक विभिन्न आलबालों (क्यारियों)-में बोये पौधोंकी सिंचाई करता है, ठीक उसी तरह नाभि-नाडीकी एक ही मूलनालीसे जाते हुए आहाररसके द्वारा विभिन्न धातुओंका पोषण होता है।'

(अष्टाङ्गहृदय, शा० १।५६)

जन्मान्तरीय पापोंसे रोगोंकी उत्पत्ति

(धर्मशास्त्रादि सप्त आचार्य विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी, काव्यतीर्थ, एम्०ए० (हिन्दी-संस्कृत), साहित्यरत्न, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०)

समस्त प्राणियोंमें मानव श्रेष्ठ है; क्योंकि इसने शारीरिक उन्नतिके साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नतिके शास्त्र रचे तथा ईश्वरीय प्रेरणा एवं साधनासे गहन अध्ययन किया और शास्त्रोंके सारको ग्रहणकर सुखी रहनेके उपाय ढूँढ़े, आरोग्यकी महत्ता समझी और जहाँ ये उपाय रुक गये तथा रोग-मुक्तिके उपाय न दीखे तो रोग क्यों होता है, इसकी खोज की और जितना हो सका आयुर्वेदसे लाभ लिया, शेष धर्मशास्त्रोंसे भी लाभ लिया है। यहाँ आयुर्वेदकी अपेक्षा विभिन्न धर्मशास्त्रों (स्मृतियों)-में रोग उत्पन्न होनेके जो लक्षण दिये गये हैं और जन्मान्तरीय किस निन्दित कर्मसे वर्तमानमें कौन-सा रोग हुआ है, इसका संक्षेपमें विचार किया गया है।

पूर्वजन्ममें किये पापोंसे रोग होते हैं और फिर रोगजनित चिह्न भी प्रकट होते हैं, पर जप आदि दैवव्यपाश्रयसे उनकी शान्ति भी हो जाती है अर्थात् रोग ठीक हो जाते हैं—

पूर्वजन्मकृतं पापं नरकस्य परिक्षये।
बाधते व्याधिरूपेण तस्य जप्यादिभिः शमः॥

(शाता० स्मृति १।५)

धर्मशास्त्रोंमें निर्दिष्ट कर्मविपाकका संक्षेपमें यहाँ वर्णन किया जा रहा है—

(१) क्षयरोग—इसके सम्बन्धमें कहा गया है कि यह रोग तेल, घी तथा चिकनी वस्तु चुरानेके कारण होता है। त्वचामें पड़नेवाले चकत्ते भी इसी दुष्कर्मसे होते हैं। इतना ही नहीं, इस निन्दित कर्मसे कर्ताको पतित योनियोंका भोग भी भोगना पड़ता है। (गौतमस्मृति २०।१)

(२) मृगी—'प्रतिहन्ता गुरोरपस्मारी' (गौतमस्मृति

२०।१) गुरुकी ताड़ना करनेपर उसे मारनेवाला शिष्य दूसरे जन्ममें मृगीका रोगी होता है तथा गोदानसे उसकी शान्ति होती है।

(३) जन्मान्ध—'गोघ्नो जात्यन्धः' (गौतमस्मृति २०।१)। गोवध करनेवाला जन्मसे अन्धा होता है।

(४) मांसका गोला—नक्षत्रसे जीविका चलानेवाला मांसपिण्डका रोगी होता है। यह पिण्ड उदरमें हो या कन्धेपर।

(५) गण्डरोगी—निन्दित मार्गमें चलनेवाला गण्ड-रोगसे ग्रस्त होता है।

(६) खल्वाट—सिरपर बाल न होवे, उसे खल्वाट कहते हैं। दुराचार करनेवालेको यह रोग होता है।

(७) मधुमेह—अंग्रेजीमें इसे 'डाइबिटीज' कहते हैं। धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे अनियमित और स्वच्छन्द यौनाचारसे यह रोग होता है। इसका प्रायश्चित्त करनेसे शान्ति मिलती है।

(९) हाथीपाँव-रोग—यह रोग अपने गोत्रकी स्त्रीसे गमन करनेपर होता है।

'सगोत्रसमयस्त्र्यभिगामी श्लीपदी।'

(१०) अजीर्णरोग—भोजनमें विघ्न करनेवालेको अजीर्ण हो जाता है। इसकी शान्ति गायत्रीमन्त्रद्वारा एक लाख आहुति देनेसे हो जाती है।

(११) कृमिलोदर रोग—रजस्वला या अन्त्यज-दृष्टि-दोषसे दूषित अन्नके भक्षणसे पेटमें कीड़े होते हैं। इसकी शुद्धि गोमूत्रपानसे होती है।

(१२) श्वास-कास—पीठ-पीछे निन्दा करनेवालेको नरक भोगनेके बाद श्वासरोग होता है।

(१३) शूलरोग—दूसरोंको दुःख देनेवाला शूलरोगी होता है। उसे अन्नदान और रुद्रजप करना चाहिये—

शूली परोपतापेन जायते तत्प्रमोचने।
सोऽन्नदानं प्रकुर्वीत तथा रुद्रं जपेन्नरः॥

(शाता० स्मृति ३।१२)

(१४) रक्तातिसाररोग—यह रोग वनमें आग लगानेवालेको होता है। उसे चाहिये कि वह पानीका प्याऊ लगाये।

दावाग्निदायकश्चैव रक्तातिसारवान् भवेत्।

(शाता० स्मृति ३। १३)

(१५) भगन्दर, बवासीर—ये दारुण रोग देव-मन्दिरमें या पुण्य-जलमें एक बार भी मूत्र-विष्ठा त्यागनेसे होते हैं—

सुरालये जले वापि शकृण्मूत्रं करोति यः।
गुदरोगो भवेत् तस्य पापरूपः सुदारुणः॥

(शाता० स्मृति ३।१४)

(१६) जलोदर-प्लीहा—स्त्रीके गर्भ गिरानेवालेको 'यकृत् प्लीहा' से सम्बद्ध और जलरोग होते हैं।

(१७) लकवा—सभामें पक्षपात करनेवालेको पक्षाघात होता है। उसे चाहिये कि वह सात्त्विक ब्राह्मणको बारह भर (तोला) स्वर्णदान देकर प्रायश्चित्त करे—

सभायां पक्षपाती च जायते पक्षघातवान्।
निष्कत्रयमितं हेम स दद्यात् सत्यवर्तिनाम्॥

(शाता० स्मृति ३।२२)

(१८) नेत्ररोग—यह रोग राँगा चुरानेवालेको होता है। वह एक दिन उपवास करके चार सौ भर राँगा दान करे। मधु चुरानेवालेको भी नेत्ररोग होता है, वह मधुधेनुका दान करे।

(१९) खुजली—यह रोग तेल चुरानेसे होता है—

तैलचौरस्तु पुरुषो भवेत् कण्ड्वादिपीडितः।

(शाता० स्मृति ४।१३)

इसकी शान्ति एक दिन उपवास करने तथा दो घड़े तेल दान करनेसे बतायी गयी है।

(२०) संग्रहणी—यह रोग नाना प्रकारके द्रव्य चुरानेसे होता है। प्रायः अन्न, जल, वस्त्र, सोना दान करनेसे लाभ होता है।

नानाविधद्रव्यचौरो जायते ग्रहिणीयुतः।

(शाता० स्मृति ४।३२)

(२१) पथरी—यह रोग सौतेली मातासे गमन करनेसे होता है।

मातुः सपत्निगमने जायते चाश्मरीगदः।

(शाता० स्मृति ५।२६)

इसकी शान्तिके लिये मधुधेनु और सौ द्रोण तिल दान करे।

(२२) कुबड़ा—पापी व्यक्ति अगम्यागमनसे दूसरे जन्ममें कुबड़ा होता है। वह काले मृगचर्मका दान करे।

(२३) प्रमेहरोग—यह रोग तपस्विनीके साथ गमन करनेसे होता है। इसकी शान्ति एक मासतक 'रुद्राष्टाध्यायी-पाठ' तथा सुवर्ण-दानसे होती है।

(२४) हृदयव्रण—यह रोग अपनी गोत्र-जातिकी

स्त्रीसे गमन करनेसे उत्पन्न होता है।

स्वजातिजायागमने जायते हृदयव्रणी।

(शाता० स्मृति ५। ३६)

प्रायः दो प्राजापत्यव्रत करनेसे हृदयरोगमें लाभ होता है।

(२५) मूत्राघात—यह रोग पशु-सम्भोगसे होता है। इसकी शान्तिके लिये तिलसे भरे दो पात्रोंका दान करे।

(२६) जिह्वारोग—यह रोग पका हुआ अन्न चुरानेवालेको होता है। इसकी शान्तिके लिये एक लाख गायत्री-जप और दशांश हवन करे।

(२७) गूँगा—विद्याकी पुस्तक चुरानेवाला गूँगा होता है। न्याय और इतिहासकी पुस्तक दान करे।

(२८) आधासीसी—यह रोग औषध चुरानेसे होता है। इसकी शान्तिका उपाय—सूर्यको अर्घ्य दे और एक माशा सोना दान करे।

औषधस्यापहरणे सूर्यावर्तः प्रजायते।
सूर्यायार्घः प्रदातव्यो मासं देयं च काञ्चनम्॥

(शाता० स्मृति ४। २६)

(२९) अंगुलिमें घाव—यह रोग फल चुरानेसे होता है। इसकी शान्तिके लिये दस हजार फल दान करे।

(३०) ज्वर—देव-द्रव्य चुरानेवालेको चार प्रकारके ज्वर होते हैं—ज्वर, महाज्वर, रौद्रज्वर और वैष्णवज्वर। इसकी शान्ति यथासंख्यक रुद्रीका पाठ करानेसे होती है।

धर्मशास्त्रोंमें जन्मान्तरीय रोगोंकी शान्तिके उपाय भी बतलाये गये हैं और पूर्वजन्मकृत पापोंके चिह्न इस जन्ममें रोगरूपमें प्रकट होते हैं, जिन्हें स्मृतिग्रन्थों तथा कर्म-विपाकमें देखा जा सकता है। यहाँ दिग्दर्शनमात्र है, श्रद्धा-विश्वास रखनेसे इन उपायोंसे लाभ अवश्य होगा।

सर्वरोगमूल—भवरोग

(श्रीश्यामलालजी हकीम)

इसमें संदेह क्या है कि शेष-अशेष रोगोंकी मूल जड़ है भवरोग, जो अति भयावह, विकराल है! संसारमें बार-बार जन्म लेना ही शारीरिक, मानसिक रोगोंकी पृष्ठभूमि है। यदि संसारमें आवागमन ही मिट जाय तो रोग कैसा? किंतु अनादि कालकी बहिर्मुखता संसारमें आनेपर ही दूर होती है। परम स्वतन्त्र श्रीभगवान्‌का अंश होनेसे जीवमें अणुस्वातन्त्र्य है। अनादि कालसे वह उसका प्रयोग कर भगवद्बहिर्मुख होकर मायाकी सेवा करनेमें अनुरक्त है। मायाबद्ध होनेसे अनेक प्रकारकी कामनाओंके वशीभूत होकर अनेक प्रकारके कर्म करता है। कर्मफल भोगे बिना उसकी निवृत्ति असम्भव है। कर्मफल-भोगके लिये भोगायतन शरीरकी अपरिहार्यता है। प्राकृत संसारमें ही भोगायतन शरीरकी प्राप्ति होनेपर भोगोंके उपयुक्त सुख-दुःखप्रद पदार्थ उपलब्ध होते हैं। अतः संसारमें आवागमन तबतक नहीं मिट सकता, जबतक मायाका सम्बन्ध है। भगवदंश जीव जबतक अपने शुद्ध स्वरूप भगवत्-दासत्वमें अवस्थित नहीं होता, तबतक माया इसे नहीं छोड़ती। माया तभी छोड़ती है जब जीव मायापति भगवान् श्रीकृष्णके शरणापन्न हो जाता है—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७। १४)

भगवत्-शरणापन्न होनेपर फिर जीवको संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता, जन्म ही नहीं तो मरण भी नहीं—

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(गीता ८। १६)

तथा—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

(गीता ८। १५)

श्रीभगवान्‌के शरणापन्न होनेपर दुःखोंके कारणभूत क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको अर्थात् संसारको महापुरुष प्राप्त नहीं होते। परम सिद्धि अर्थात् भगवत्-लोकको प्राप्त कर लेते हैं। वहाँसे फिर संसारमें आना ही नहीं होता।

अतः भवरोगसे निष्कृति या शाश्वत आरोग्य प्राप्त करनेके लिये एकमात्र अनुभूत रसायन है श्रीभगवान्‌की शरणापत्ति। शरणागत मनुष्य श्रीभगवान्‌के श्रीअच्युत, श्रीअनन्त, श्रीगोविन्द आदि नामोंका '**सततं कीर्तयन्तः**'—निरन्तर नाम-संकीर्तन करता हुआ अपना सर्वस्व भगवान् श्रीकृष्णके अर्पण करके सदाके लिये शारीरिक, मानसिक रोग तथा भयावह भवरोग—सभी प्रकारके रोगोंसे छुटकारा पाकर वास्तविक आरोग्यकी उपलब्धि करता है।

स्वस्थ तनमें स्वस्थ मन

(मुनि श्रीकिशनलालजी)

स्वामी विवेकानन्दजीका स्वास्थ्यके विषयमें यह कथन संक्षिप्तमें सारभूत सत्यको प्रकट करता है कि 'स्वस्थ शरीरमें स्वस्थ मनका निवास होता है।' जब स्थूल शरीर ही स्वस्थ नहीं होगा तो मन स्वस्थ कैसे रहेगा? शरीर एवं मन एक-दूसरेको प्रभावित करते हैं। मनके स्वस्थ होनेसे शरीर स्वस्थ होता है। शरीर यदि स्वस्थ है तो मन स्वस्थ होगा, ऐसी लोकोक्ति है। जब शरीर दुर्बल और अस्वस्थ होता है तब व्यक्तिका मन भी दुर्बल और अस्वस्थ हो जाता है। इसी भाँति जब मनकी स्थिति बिगड़ती है तब शरीर भी दुर्बल और अस्वस्थ हो जाता है। इस सत्यको आयुर्वेदाचार्योंने बड़े सुन्दर ढंगसे प्रदर्शित किया है—

शरीराज्जायते व्याधिर्मानसो नैव संशयः।
मानसाज्जायते व्याधिः शारीरो नैव संशयः॥

अर्थात् शरीरमें व्याधि उत्पन्न होती है तब मनमें भी व्याधि होगी, इसी प्रकार मनमें व्याधि उत्पन्न होनेपर शरीरमें भी व्याधि होगी, इसमें संशय नहीं है।

अत: यदि मनको स्वस्थ बनाना चाहते हैं तो शरीरको भी स्वस्थ बनाना आवश्यक है।

स्वास्थ्य क्या है? यह कठिन प्रश्न है। सामान्यत: रोग उत्पन्न न होनेको स्वास्थ्य माना जाता है जबकि यह यथार्थ नहीं है। रोग होना अस्वास्थ्य है किंतु रोग नहीं होना स्वास्थ्य नहीं हो सकता। रोगका अभाव स्वास्थ्यका प्रतीक कैसे हो सकता है? स्वास्थ्य यथार्थ है, विधायक स्थिति है, उसे निषेधसे कैसे जानेंगे? स्वास्थ्यका अपना अस्तित्व है, उसे कैसे अनुभव किया जाय? जो अङ्ग रुग्ण (बीमार) होता है, उस अङ्गका बार-बार स्मरण होता है और जो अङ्ग स्वस्थ है उसकी स्मृति होती ही नहीं। इससे यह सत्य उद्घाटित होता है कि स्वास्थ्य किसी निषेधका अस्तित्व नहीं है। आँग्लभाषामें 'हेल्थ' को स्वास्थ्य कहा गया है, किंतु इससे यथार्थकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। स्वस्थकी परिभाषामें कहा गया है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

अर्थात् 'जिस व्यक्तिके त्रिदोष (वात, पित्त और कफ) सम हैं, जिसकी अग्नि और धातु सम हैं, मल और क्रिया सम हैं, जिसकी आत्मा, इन्द्रियाँ और मन प्रसन्न (निर्मल) हैं वह स्वस्थ है।' मानसिक स्वास्थ्यको परिभाषित करते हुए कहा गया है—'जो सुख-दु:खमें सम है, लौह और स्वर्णमें समान दृष्टिवाला है, प्रिय-अप्रियमें धीर है, निन्दा-संस्तुतिमें बराबर है; वही पूर्ण स्वस्थ हो सकता है।'

स्वास्थ्य और पथ्य— शरीरका विकास भोजन, पानी, मिट्टी, हवा, धूप आदिसे होता है। जैसा भोजन, पानी मिलता है, वैसा ही शरीर निर्मित होता है। व्यक्तिके शरीरपर स्वयंके कर्म-संस्कारोंका जहाँ प्रभाव पड़ता है, वहीं माता-पितासे प्राप्त संस्कारोंका भी अपना प्रभाव रहता है।

स्वास्थ्यके लिये भोजन, पानी आदि खाद्य पदार्थोंका विवेक अत्यन्त आवश्यक है। युवावस्थामें पाचन-तन्त्र शक्तिशाली होता है। इच्छित भोजन करके व्यक्ति अपनी इन्द्रियोंको संतुष्ट करता है। पाचन-तन्त्रका सम्यक् समायोजन न होनेपर वह रुग्ण और दुर्बल हो जाता है। निर्बल पाचन-तन्त्रसे पाचन-क्रिया सही नहीं रहती, जिससे व्यक्ति दुर्बल और बीमार होने लगता है।

उचित पथ्यका सेवन करनेवाला व्यक्ति बीमार नहीं होता। जो खाद्य है, शरीर एवं आँतोंके लिये अनुकूल है उसका विवेक रखना, जिन वस्तुओंका उपयोग स्वास्थ्यके लिये हितकर नहीं है उनसे परहेज करना ही उचित है। इसका परिणाम यह होता है कि पाचन-तन्त्र बिगड़ता नहीं। उचित पथ्यका सेवन करनेवालेके पास वैद्य आकर क्या करेगा? औषधिकी उसे अपेक्षा ही नहीं रहेगी।

अपथ्य-सेवनके द्वारा विकार उत्पन्न होते ही शरीर-तन्त्र दुर्बल बन जाता है। दुर्बल शरीरमें नाना प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। ऐसी स्थितिमें एक रोग ठीक होता है तो दूसरा पैदा हो जाता है। इसलिये एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि शरीरका ताना-बाना, प्रतिरोधात्मक शक्ति (इम्यून-सिस्टम)-को मज़बूत बनाना आवश्यक है। जिस व्यक्तिका शरीर शक्तिसम्पन्न होता है और जो उचित

पथ्यका सेवन करता है, उसके लिये रोगकी कोई समस्या नहीं। किंतु प्रश्न तब भी यह रह जाता है कि दुर्बल शरीरको शक्तिशाली या स्वस्थ कैसे बनाया जाय?

चिकित्सा और औषधि—रोगी चिकित्सासे स्वस्थ होना चाहता है, यह उसकी मूल मनोवृत्ति है। कोई भी रोगी किसी चिकित्सासे स्वस्थ हो जाय उसका यह प्रयत्न रहता है। जो शरीरसे दुर्बल होता है उसका मानना रहता है कि वह शक्तिशाली और स्वस्थ बने। दुर्बलता सामान्यत: कोई बीमारी नहीं, किंतु दुर्बल शरीरमें रोगके प्रतिकारकी क्षमता कम होती है। इसलिये रोग आसानीसे उत्पन्न हो जाते हैं। औषधिके द्वारा रोगके प्रतिकारकी क्षमताको बल मिलता है अथवा रोगको नष्ट करनेके लिये औषधिका उपयोग किया जाता है।

भिन्न-भिन्न चिकित्सा-पद्धतियोंके अपने-अपने सिद्धान्त और दृष्टियाँ हैं। **एलोपैथी** का अपना चिन्तन है कि मलेरिया आदि रोग कीटाणुओंसे उत्पन्न होते हैं। कीटाणुओंके संयोगसे रोगकी उत्पत्ति होती है। वे कीटाणु नष्ट कर दिये जायँ तो व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। रोगके कीटाणुओंको नष्ट करनेके लिये जिन औषधियोंका प्रयोग किया जाता है, उससे कीटाणु तो नष्ट हो जाते हैं, किंतु उस औषधिसे कुछ अन्य सहचर कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

होम्योपैथीमें रोग-निदानका अपना तरीका है। जिस औषधिसे जो लक्षण प्रकट होते हैं उनको देखकर, वैसी औषधिका प्रयोग किया जाता है—'**विषस्य विषमौषधम्**' विष देनेसे जैसे शरीरपर जो लक्षण पैदा होते हैं, उस विषसे बनी औषधिसे शरीरपर उत्पन्न होनेवाले लक्षण दूर हो जाते हैं।

आयुर्वेद-पद्धतिमें रोगीके रोगका निदान नाडी अथवा अन्य लक्षणोंसे होता है। मुख्यत: चिकित्सा-पद्धतिका यह आधार बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। ऋषि कहते हैं कि मुझे ऐसी पद्धति चाहिये, जिससे व्यक्ति रोगसे सदा मुक्त ही नहीं हो, अपितु स्वस्थ बने। आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धतिकी यह विचारधारा महत्त्वपूर्ण है कि जब औषधि शरीरको स्वस्थ बनाती है तब रोगके दोष अपने-आप दूर हो जाते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धतिके अनुसार शरीर विजातीय पदार्थको शरीरसे बाहर निकालनेकी कोशिश करता है—संयोगसे विजातीय तत्त्व अथवा दोषको शरीरसे बाहर फेंकनेकी कोशिश करता है। जब दोष बाहर निकल जाता है, तब व्यक्ति स्वास्थ्य-लाभका अनुभव करता है।

प्रेक्षाध्यान-पद्धतिने **आधि, व्याधि** और **उपाधि**को रोगकी उत्पत्तिका कारण माना है। आधि मनके असंतुलनसे उत्पन्न होनेवाला रोग है। व्याधि शारीरिक दोषसे उत्पन्न होनेवाला दोष है। उपाधि भावनात्मक रोग है। शरीर, मन और भावोंके असंतुलनसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका समाधान कैसे हो? क्या रोगके प्रतिकारके लिये औषधिकी आवश्यकता है? अथवा कोई दूसरा विकल्प भी हो सकता है? वह विकल्प प्रेक्षाध्यानके द्वारा 'अमृत-पिटक'के रूपमें प्रस्तुत किया गया है। आचार्य महाप्राज्ञके अनुसार औषधि विवशतामें ग्रहण की जाती है। उत्तेजक औषधिका प्रयोग अर्थका नुकसान तो करता ही है, साथ ही उससे हमेशाके लिये कुछ शारीरिक समस्याएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं।

चिकित्सा-पद्धति कोई भी क्यों न हो, व्यवस्थित होनी चाहिये। जिससे रोगीका चित्त समाहित रह सके। चिकित्सा एवं औषधिके परिणाम निकल सकें। आधि, व्याधि और उपाधि—ये तीनों व्यक्तिको पीडित करती हैं। पीडासे उद्वेलित व्यक्ति इन सबसे मुक्त होना चाहता है। '**अमृत-पिटक**' में औषधिके बिना स्वास्थ्य-उपलब्धिकी विधियोंका विश्लेषण है।

स्वास्थ्य-उपलब्धिका मार्ग—

स्वास्थ्य प्राप्त करनेके लिये आसन, प्राणायाम, कायोत्सर्ग एवं प्रेक्षा-अनुप्रेक्षाका प्रयोग रोगीके लिये हितकर है। इनसे व्यक्ति रोग-मुक्त होकर शक्तिशाली बनता है। शरीरकी दुर्बलताको शक्तिमें बदलनेके लिये '**अमृत-पिटक**' ने आसन-प्राणायामके माध्यमसे, प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, जप, तप आदिसे समाधान किया है। शारीरिक दुर्बलताको दूर करनेके लिये आसन आदिके प्रयोग जो निर्धारित हैं, वे निम्न हैं—

आसन—उत्तानपादासन, मकरासन, वज्रासन, ताड़ासन।

प्राणायाम—लयबद्ध दीर्घ श्वास।

प्रेक्षा—प्राणसंचारका प्रयोग। सर्वाङ्गशरीरप्रेक्षा-ध्यान।

अनुप्रेक्षा—शक्तिकी अनुप्रेक्षा।

जप—आरोग्य बोहिलाभं, समाहि वरमुत्तमं दिन्त।

तप—गरिष्ठ एवं तली हुई वस्तुओंका परिष्कार।

उपर्युक्त विधियोंको चिकित्सा न कहकर उन्हें स्वास्थ्य प्राप्त करानेवाली विधियाँ अथवा दृष्टि कहें तो अधिक उचित होगा।

स्वास्थ्य-लाभके लिये कुछ उपाय निम्नाङ्कित हैं—

आसन—शरीरको केवल मोड़ना, टेढ़ा-मेढ़ा करना ही आसन नहीं है। आसन केवल आकृतिमें आना नहीं है। आसन बाहरसे आकृतिरूपमें अवश्य दिखायी देता है, किंतु बाह्य आकार भीतरके भावोंको रूपान्तरित करता है। ***'जैसी मुद्रा, वैसा भाव'*** तथा ***'जैसा भाव, वैसी मुद्रा।'*** भावको बदलनेके लिये मुद्रा और आसनका उपयोग होता है। दुर्बल शरीरको शक्तिशाली एवं स्वस्थ बनानेके लिये **'अमृत-पिटक'** में चार आसनोंका निर्देश दिया गया है। आसनोंके साथ उनके विधि-विशेषको भी जानना आवश्यक है। प्राणायाम, प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, जप और तपके प्रयोगोंकी विधियोंके अनुसार जीवनचर्या अपनानेपर व्यक्ति स्वस्थ हो सकता है।

प्राणायाम—लयबद्ध दीर्घ श्वास—श्वास-प्रश्वासको गहरा और लम्बा करे। धीरे-धीरे श्वास ले, धीरे-धीरे श्वास छोड़े। अपने चित्तको कण्ठकूपके श्वास-नलीमें केन्द्रित करे। श्वास लेते समय श्वास-नलीको स्पर्श करते हुए भीतर जाये और छोड़ते समय भी उसी प्रकार स्पर्श करते हुए बाहर आये। इससे श्वास गहरा और दीर्घ होता है। श्वासको ग्रहण करते समय पेट फूले और छोड़ते समय पेट सिकुड़े। धीरे-धीरे लम्बा गहरा और लयबद्ध श्वास ले।

जितने समयमें लम्बा गहरा और धीमी गतिसे श्वास ले, उतने ही समयमें धीमी गतिसे धीरे-धीरे श्वासको बाहर छोड़े। यही क्रिया लगातार करे। लयबद्ध श्वास मनको एकाग्र और शरीरको स्वस्थ बनाता है।

प्राणायाम करते समय प्रत्येक श्वास लयबद्धरूपमें ५ सेकंड ले और ५ सेकंड छोड़े।

सर्वाङ्ग-शरीरप्रेक्षा—शरीरप्रेक्षामें हमें शरीरको देखना है। खुली आँखोंसे नहीं, बल्कि चित्तसे। आँखें बंद रहेंगी। चित्तको शरीरके प्रत्येक अवयवपर ले जाकर वहाँपर होनेवाले परिणमन, स्पन्दन, प्रकम्पन या संवेदन आदिको द्रष्टाभावसे देखना है। कपड़ेका स्पर्श, पसीना, खुजली, दर्द आदि जो कुछ भी अनुभव हो, उसे देखना है, केवल देखना है, उसका अनुभव करना है।

चित्तमें यह क्षमता है कि वह एक बिन्दुपर केन्द्रित हो सकता है और एक साथ पूरे शरीरपर फैल सकता है। चित्तको पैरके दोनों अँगूठोंपर केन्द्रित करे। पूरे शरीरके आकारमें फैलते हुए पैरसे सिरतक शीघ्रतासे ले जाय। उसी गतिसे सिरसे पैरतक ले आये। बीच-बीचमें श्वास-संयमके साथ शरीर-प्रेक्षाका प्रयोग करे। शरीरके कण-कणका स्पर्श करे। शरीरका कण-कण चेतना और प्राणके स्पर्शसे झंकृत हो उठे। अनुभव करे, जैसे पूरे शरीरमें बिजलीकी धारा दौड़ रही है। कपड़ेका स्पर्श, पसीना, खुजली, दर्द, स्पन्दन जो कुछ हो रहा है, उसका तटस्थ भावसे अनुभव करे। अब धीमी गतिसे चित्तकी यात्रा करे। कहीं पीडा, अवरोध हो उसपर कुछ क्षणोंके लिये रुके। केवल जाने। पूर्ण समभाव रहे।

अनुप्रेक्षाका प्रयोग करनेके लिये सर्वप्रथम महाप्राण ध्वनिका प्रयोग किया जाता है। कायोत्सर्ग, भावना और संकल्पसे अनुप्रेक्षाका अभ्यास, अनुचिन्तन कर महाप्राण ध्वनिके तीन बार उच्चारणसे प्रयोग सम्पन्न किया जाता है।

शक्तिकी अनुप्रेक्षा—१-महाप्राण ध्वनि, २-कायोत्सर्ग—अरुण रंगका श्वास ले। अनुभव करे कि चारों तरफ अरुण रंगके परमाणु फैले हुए हैं। अरुण रंगके परमाणु श्वासके साथ भीतर प्रवेश कर रहे हैं। पाँच मिनट तैजस केन्द्रपर चित्तको केन्द्रितकर अनुप्रेक्षा करे कि शक्तिका विकास हो रहा है। शरीरके कण-कणमें शक्तिका संचार हो रहा है।

अनुचिन्तन—विश्वमें शक्तिकी पूजा होती है। शक्तिशाली व्यक्ति ही जीवनमें सफल होता है ऐसा अनुचिन्तन करे।

महाप्राण ध्वनि—मन्त्रके अर्थ तथा मन्त्रके प्रभावी शब्दोंका भावनापूर्वक तीन बार जप करे। इसमें जिस विषयका जप करना है, उसको पुनः-पुनः दोहराना होता है। उससे शक्ति प्राप्त होती है और रोग दूर होते हैं।

तप—तपका अर्थ है संयम और तितिक्षा। अपनी इन्द्रियों और मनको संयत रखना सबसे बड़ा तप है। उससे जैसा चाहे वैसा परिणाम निकलता है।

स्वास्थ्यपर संगीतके स्वरोंका प्रभाव

(डॉ० श्रीप्रेमप्रकाशजी लक्कड़ एम्०ए०, पी-एच्०डी०, एल्-एल्०बी०, कमिश्नर)

गान्धर्ववेद (संगीतशास्त्र)-में स्वर सात बतलाये गये हैं। इन्हीं सात स्वरोंके मिश्रणसे सभी राग-रागिनियोंका स्वरूप निर्धारित हुआ है। स्वर-साधना एवं नादानुसंधानके विविध प्रयोग निर्दिष्ट हैं। इनसे शरीर, स्वास्थ्यको भी बल मिलता है।

इन सात स्वरोंके नाम हैं—सा, रे, ग, म, प, ध, नि।

सा (षड्ज)—नासिका, कण्ठ, उर, तालु, जिह्वा और दाँत—इन छ: स्थानोंके सहयोगसे उत्पन्न होनेके कारण इसे षड्ज कहते हैं। अन्य छ: स्वरोंकी उत्पत्तिका आधार होनेके कारण भी इसे षड्ज कहा जाता है।

इसका स्वभाव ठंडा, रंग गुलाबी और स्थान नाभि-प्रदेश है। इसका देवता अग्नि है। यह स्वर पित्तज रोगोंका शमन करता है। उदाहरण—मोरका स्वर षड्ज होता है।

रे (ऋषभ)—नाभिसे उठता हुआ वायु जब कण्ठ और शीर्षसे टकराकर ध्वनि करता है तो उस स्वरको रे (ऋषभ) कहते हैं।

इसकी प्रकृति शीतल तथा शुष्क, रंग हरा एवं पीला मिला हुआ और स्थान हृदय-प्रदेश है। इसका देवता ब्रह्मा है। यह स्वर कफ एवं पित्तप्रधान रोगोंका शमन करता है।

उदाहरण—पपीहाका स्वर ऋषभ होता है।

ग (गन्धार)—नाभिसे उठता हुआ वायु जब कण्ठ और शीर्षसे टकराकर नासिकाकी गन्धसे युक्त होकर निकलता है, तब उसे गन्धार कहते हैं। इसका स्वभाव ठंडा, रंग नारंगी और स्थान फेफड़ोंमें है। इसका देवता सरस्वती है। यह पित्तज रोगोंका शमन करता है।

उदाहरण—बकरेका स्वर गन्धार होता है।

म (मध्यम)—नाभिसे उठा हुआ वायु जब उर-प्रदेश और हृदयसे टकराकर मध्यभागमें नाद करता है, तब उसे मध्यम स्वर कहते हैं। इसका स्वभाव शुष्क, रंग गुलाबी और पीला मिश्रित तथा स्थान कण्ठ है। इसकी प्रकृति चंचल है। इस स्वरके देवता महादेव हैं।

यह वात और कफ-रोगोंका शमन करता है।

उदाहरण—कौआ मध्यम स्वरमें बोलता है।

प (पंचम)—नाभि, उर, हृदय, कण्ठ और शीर्ष—इन पाँच स्थानोंका स्पर्श करनेके कारण इस स्वरको पंचम कहते हैं। सात स्वरोंकी शृंखलामें पाँचवे स्थानपर होनेसे भी यह पंचम कहा जाता है।

इसकी प्रकृति उत्साहपूर्ण, रंग लाल और स्थान मुख है। इसका देवता लक्ष्मी कहा गया है। यह कफ-प्रधान रोगोंका शमन करता है। उदाहरण—कोयलका स्वर।

ध (धैवत)—पूर्वके पाँच स्वरोंका अनुसंधान करनेवाले इस स्वरकी प्रकृति चित्तको प्रसन्न और उदासीन दोनों बनाती है। इसका स्थान तालु है और देवता गणेश हैं।

यह पित्तज रोगोंका शमन करता है। उदाहरण—मेढकका स्वर।

नि (निषाद)—यह स्वर अपनी तीव्रतासे सभी स्वरोंको दबा देता है, अत: निषाद कहा गया है। इसका स्वभाव ठंडा-शुष्क, रंग काला और स्थान नासिका है। इसकी प्रकृति जोशीली और आह्लादकारी है। इसके देवता सूर्य हैं। यह वातज रोगोंका शमन करता है। उदाहरण—हाथीका स्वर।